2-3

हिंसा से परे

जे कृष्णमूर्ति

४०)

हिंसा से परे

सन् १९७० में अमरीका और यूरोप के विभिन्न स्थानों पर हुई वार्ताओं एवं चर्चाओं की प्रामाणिक प्रस्तुति ।

प्रश्नकर्ता : क्या समस्त चीजों की एकता में विश्वास उतना ही मानवीय नहीं है जितना मानवीय समस्त चीजों की पृथक्ता में विश्वास है ?

कृष्णमूर्ति : आप किसी भी चीज में क्यों विश्वास करना चाहते हैं ? आप समस्त मानव की एकता में क्यों विश्वास करना चाहते हैं ? तथ्य तो यही है कि हम एक नहीं हैं; अतः आप ऐसी चीज में क्यों विश्वास करना चाहते हैं जो तथ्य है ही नहीं ? विश्वास का यह सवाल अत्यन्त विकट है । जरा सोचिये, आपका अपना विश्वास है, दूसरे का अपना विश्वास है, और इसी विश्वास के लिए लोग लड़ रहे हैं एवं एक-दूसरे की हत्या कर रहे हैं ।

आपके पास कोई भी विश्वास है ही क्यों ? क्या इसलिए कि आप भयभीत हैं ? नहीं ? क्या आप विश्वास करते हैं कि सूरज पूरब में उगता है ? यह तो प्रतिदिन की देखी हुई बात है, इसलिए आपको इसमें विश्वास नहीं करना पड़ता । विश्वास वस्तुतः विभाजन का एक रूप है, अतः यह एक प्रकार की हिंसा है । हिंसा से मुक्त हो जाने का अर्थ है उस प्रत्येक चीज से मुक्त हो जाना जिसे एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को सौंप रखा है, जैसे—विश्वास, धार्मिक मत, कर्मकाण्ड तथा इस तरह की मूढ़ताएँ : मेरा देश, तुम्हारा देश, मेरा ईश्वर, तुम्हारा ईश्वर, मेरा मत, तुम्हारा मत, मेरा आदर्श; तुम्हारा आदर्श । ये सब मनुष्य को विभाजित करने का काम करते हैं और इसलिए हिंसा को जन्म देते हैं । यद्यपि संगठित धर्मों ने मानव जाति की एकता का उपदेश दिया है, तथापि प्रत्येक धर्म यही सोचता है कि वह अन्य धर्मों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है ।

हिंसा से परे

जे० कृष्णमूर्ति

अनुवाद : हरीश

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया
वाराणसी

हिंसा से परे
हिन्दी अनुवाद : Beyond Violence

संस्करण :
नवम्बर १९८४

मूल्य : रु० २०.००

प्रकाशक :
कृष्णमूर्ति फाउंडेशन
राजघाट शिक्षा संस्थान
राजघाट फोर्ट, वाराणसी
२२१००१

मुद्रक :
शिवशंकर प्रसाद
दीपक प्रेस,
एस० १७/२७२ नदेसर, वाराणसी २२१००२

विषय-सूची

वार्ताएँ एवं चर्चाएँ

खण्ड १

खण्ड २

खण्ड १

१

अस्तित्व

''वैज्ञानिक और तकनीकी स्तर पर मनुष्य अविश्वसनीय रूप से आगे बढ़ चुका है, किन्तु वह स्वयं आज भी वही है, जो वह हजारों वर्ष पूर्व था—लड़ाकू, लोभी, ईर्ष्यालु, परम दुःख से बोझिल।''

मैं अस्तित्व की पूरी समस्या के सम्वन्ध में चर्चा करना चाहूँगा। संभवतः आपको पता है और साथ ही साथ वक्ता को भी यह पता है कि जगत में वस्तुतः क्या घटित हो रहा है—निपट अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था, हिंसा, क्रूरता के उग्रतम रूप तथा दंगे जिनका अन्त युद्ध में होता है। हमारा जीवन असाधारण रूप से अस्तव्यस्त, संघर्षपूर्ण और विसंगतिपूर्ण है, न केवल हमारे अन्दर—मानो चमड़ी के भीतर—बल्कि वाह्य रूप से भी। चारों ओर घोर विध्वंस और विनाश चल रहा है। सारे के सारे नैतिक मूल्य दिन-व-दिन वदल रहे हैं, न कहीं सम्मान की भावना है न कहीं सत्ता का अस्तित्व, एवं किसी भी चीज में किसी व्यक्ति की आस्था नहीं है—न मन्दिर में, न व्यवस्था में और न ही किसी दार्शनिक प्रणाली में। अतः ऐसे अस्तव्यस्त संसार में व्यक्ति करे तो क्या करे, यह पता लगाने के लिए वह नितान्त अकेला रह गया है। इस स्थिति में यदि सही क्रिया जैसी कोई चीज है, तो वह क्या है ?

मुझे यह निश्चित जान पड़ता है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति यह पूछता है कि सही आचरण क्या है। यह एक अत्यन्त गंभीर प्रश्न है, और मुझे आशा है कि आपमें से जो व्यक्ति यहाँ उपस्थित हैं वे सचमुच गंभीर हैं, क्योंकि हम यहाँ दार्शनिक या धार्मिक मनोरंजन के लिए नहीं आये हैं। हम किसी सिद्धान्त या दर्शन (फिलॉसफि) में डुबकियाँ नहीं लगा रहे हैं और न ही हम दूर देश से कुछ आकर्षक विचार और धारणाएँ ला रहे हैं। हम मिलजुलकर एक साथ जो कार्य करने जा रहे हैं वह है तथ्यों की तथ्यपरक ढंग से परीक्षा करना—अत्यन्त ध्यानपूर्वक, वस्तुपरक ढंग से, भावना और भावुकता से मुक्त होकर। इस ढंग से छानबीन करने के लिए पूर्वाग्रहों, संस्कारों एवं विश्वासों से मुक्ति होनी चाहिए; हर तरह के दर्शन (फिलॉसफि) से मुक्ति होनी चाहिए। हम साथ-साथ यह छानबीन करने जा रहे हैं—अत्यन्त धीरे-धीरे, धैर्यपूर्वक एवं अनिर्णयपूर्वक ताकि हम तथ्य की वास्तविकता का पता लगा सकें। योग्य वैज्ञानिकों

का एक समूह जब किसी चीज को माइक्रोस्कोप के नीचे देखता है तो वे सभी वस्तुतः एक ही तथ्य का अवलोकन करते हैं। यदि आप प्रयोगशाला में कार्यरत एक वैज्ञानिक हैं तो आप अपने माइक्रोस्कोप से जो कुछ देखते हैं उसे दूसरे वैज्ञानिकों को दिखाने में भी आपको समर्थ होना चाहिए, ताकि आप दोनों ठीक-ठीक उसे देख पायें जो है। और यही चीज हम भी करने जा रहे हैं। माइक्रोस्कोप न तो आपका है और न वक्ता का; एक ही यंत्र है जिससे हम सभी अवलोकन करने जा रहे हैं एवं इस अवलोकन से सीखने जा रहे हैं—इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमें अपने स्वभाव, संस्कार या अपने किसी विश्वास विशेष के अनुसार नहीं सीखना है बल्कि 'जो है' उसी का सिर्फ अवलोकन करना है और इस अवलोकन द्वारा सीखना है। और इस 'सीखने' में ही 'करना' निहित है—सीखना वस्तुतः क्रिया से अलग नहीं है।

अतः सर्वप्रथम हम जो करने जा रहे हैं वह है इस बात को समझना कि संवाद करने का क्या अर्थ है। हमें शब्दों का प्रयोग तो करना ही पड़ेगा, किन्तु शब्दों के पार जाना कहीं अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक है। इसका अर्थ है, आप एवं वक्ता दोनों खोज-बीन की एक ऐसी यात्रा साथ-साथ करने जा रहे हैं जहाँ हममें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के साथ सतत सहभागिता की स्थिति में होगा—साथ-साथ सम्मिलित होते हुए, साथ-साथ छान-बीन करते हुए, साथ-साथ अवलोकन करते हुए। क्योंकि संवाद का अर्थ ही है : सहभागी होना, आदान-प्रदान करना। अतः यहाँ न कोई गुरु है न कोई शिष्य, और न ही कोई वक्ता है जिसको आप सुन रहे हैं, सहमत या असहमत होते हुए—क्योंकि यह बेतुका है। यदि हम संवाद कर रहे हैं तो सहमति या असहमति का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि हम दोनों ही व्यक्ति किसी चीज को देख रहे हैं, उसकी परीक्षा कर रहे हैं—श्रोता या वक्ता के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि वस्तुपरक ढंग से।

इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पता लगायें कि साफ और स्वच्छ दृष्टि से कैसे अवलोकन किया जाता है, कैसे देखा जाता है तथा सम्यक् ढंग से कैसे सुना जाता है—ताकि हमारे देखने और सुनने में कोई विकृति न हो। मिलजुलकर एक साथ सम्मिलित होना श्रोता और वक्ता दोनों का उत्तरदायित्व है—अतः हम साथ-साथ कार्य करने जा रहे हैं। और एक बात हमें शुरू से ही बिलकुल अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि हम भावुकता और भावनाओं में नहीं बहने जा रहे हैं।

इस प्रकार अब यदि श्रोता और वक्ता दोनों ही अपने पूर्वाग्रहों, अपने विश्वासों तथा अपने विशेष ज्ञान और संस्कारों से मुक्त होकर जाँच-पड़ताल करने के लिए स्वतंत्र हैं, तब हम आगे बढ़ सकते हैं—इस बात का ध्यान रखते हुए कि हम अत्यंत सूक्ष्म एवं समर्थ यंत्र से तथ्यों को देखने जा रहे हैं, और दूसरी बात यह कि श्रोता एवं वक्ता दोनों को एक ही चीज देखनी चाहिए, अन्यथा संवाद कर पाना सम्भव नहीं होगा।

जैसा कि यह एक अत्यंत गंभीर विषय है, इसलिए आपको न केवल इसकी छानवीन करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए बल्कि इसे अपने दैनिक जीवन में आजमाने के लिए और लागू करने के लिए भी स्वतंत्र होना चाहिए, ताकि आप इसे एक सिद्धान्त या परिकल्पना के रूप में ही न रखे रह जायें, जिसकी ओर आपको कार्य करते रहना है।

अव हम इस ओर नजर डालें कि संसार में क्या हो रहा है। हर तरह की हिंसा चल रही है, न केवल वाह्य रूप से वल्कि हमारे परस्पर संवंधों के भीतर भी। धर्म और राष्ट्रीयता के अनंत विभाजन लोगों के वीच मौजूद हैं, हर व्यक्ति दूसरे के विरोध में खड़ा है—राजनीतिक रूप से और व्यक्तिगत रूप से भी। इस व्यापक दुरव्यवस्था और इस असीम दुःख को देखते हुए आप क्या करेंगे? क्या आप दूसरे व्यक्ति पर निर्भर रह सकते हैं—किसी गुरु, विशेषज्ञ या मनोविश्लेषक पर—जो आपको वताये कि आपको क्या करना है? किंतु ये लोग सुख, शांति, आनंद या जीने की स्वतंत्रता कहाँ ला पाये हैं! तो अव आप किसको खोज करेंगे? एक व्यक्ति के रूप में यदि आप स्वयं अपनी सत्ता का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, क्योंकि वाह्य सत्ता में अव आपकी कोई आस्था नहीं रह गयी है—हम यहाँ सत्ता शब्द का प्रयोग जान बूझकर एक विशेष अर्थ में कर रहे हैं—तव एक व्यक्ति के रूप में क्या आप अपने भीतर ही स्वयं की सत्ता को खोजने का प्रयास करेंगे?

वैयक्तिकता ऐसी चीज है जो विभाज्य नहीं है, जिसे खंडित नहीं किया जा सकता। वैयक्तिकता एक समग्रता है, एक पूर्णता है, और जो चीज समग्र है वह स्वस्थ भी है; जो चीज पूर्ण है वह पवित्र भी है। किंतु इन अर्थों में आप व्यक्ति हैं ही नहीं, आप स्वस्थचित्त और संतुलित भी नहीं हैं—क्योंकि आप अपने भीतर खंडित और विभाजित हैं। आप स्वयं अपने साथ असंगति में हैं—स्वयं से पृथक और अलग—इसलिए आप व्यक्ति हैं ही नहीं। अतः इस विभाजन और खडता के कारण आप भला कैसे पूछ सकते हैं कि एक खंड की सत्ता दूसरे खंडों पर कैसे स्थापित हो?

कृपया आप इसको अत्यंत स्पष्टता से देख लें। और इसी की जाँच-पड़ताल हम कर रहे हैं, क्योंकि हम देख रहे हैं कि शिक्षा, विज्ञान, राजनीति, संगठित धर्म और इनके प्रचार, ये सब के सब असफल हो चुके हैं। ये पृथ्वी पर शांति नहीं ला पाये। यद्यपि वैज्ञानिक और तकनीकी स्तर पर मनुष्य आविश्वसनीय रूप से आगे वढ़ चुका है, किंतु वह स्वयं आज भी वही है जो वह हजारों वर्ष पूर्व था—लड़ाकू, लोभी ईर्ष्यालु, हिंसक और परम् दुःख से वोझिल। यह एक मान्यता नहीं है वल्कि यही तथ्य है।

अतः अव्यवस्था, क्रूरता और दुःख से भरे इस संसार में हम क्या करें, यह पता लगाने के लिए हमें न केवल इसकी जाँच-पड़ताल करनी है कि जीवन क्या है—जैसा

यह वस्तुतः है—वल्कि हमें यह भी समझना है कि प्रेम क्या है, और मरने का क्या अर्थ है। हमें यह भी समझना है कि हजारों वर्ष से मनुष्य आखिर किस चीज की खोज करता चला आ रहा है—अर्थात् क्या कोई ऐसी सचाई है जो समस्त विचार के पार हो ? जव तक आप इस पूरी तसवीर की जटिलता को समझ नहीं लेते तव तक यह कहना कि मैं एक खंड विशेष के संवंध में क्या करूँ—इसका कोई अर्थ नहीं है। आपको वस्तुतः इस समग्र अस्तित्व को समझना है, इसके एक खंड को ही नहीं। भले ही यह खंड कितना ही थकानेवाला, कितना ही पीड़ादायी और कितना ही क्रूर क्यों न हो लेकिन आपको पूरी तसवीर को देखना है—अर्थात् प्रेम क्या है, ध्यान क्या है, क्या ईश्वर जैसी कोई चीज है, जीने का क्या अर्थ है—इस पूरी की पूरी तसवीर को। अस्तित्व की इस घटना को हमें समग्र रूप में समझना होगा। तभी आप यह प्रश्न कर सकते हैं, "मुझे क्या करना है ?" और यदि आप इस पूरी तसवीर को देखते हैं, तो सम्भवतः आप यह प्रश्न कभी करेंगे भी नहीं—क्योंकि तव आप जी रहे होंगे और तव जीना ही सही क्रिया है।

अतः सर्वप्रथम हम यह देखने जा रहे हैं कि जीना क्या है, और जीना क्या नहीं है। हमें यह भी समझना है कि 'अवलोकन करना' शब्द का क्या अर्थ है। देखना, सुनना और सीखना—'देखना' का क्या अर्थ है ?

जव हम मिलजुलकर एक साथ किसी चीज़ को देखते हैं तो इसका अर्थ संग-साथ और सामीप्य नहीं है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि श्रोता और वक्ता दोनों ही किसी चीज़ को देख रहे हैं। 'देखना' शब्द का क्या अर्थ है ? देखना वस्तुतः एक विलकुल ही कठिन चीज़ है; आपके पास देखने की कला होनी चाहिए। संभवतः आपने कभी एक पेड़ को नहीं देखा है, क्योंकि जव आप पेड़ पर नजर डालते हैं तो आपका सारा वनस्पति-ज्ञान वीच में आ जाता है। और यह पेड़ को सही-सही अवलोकन करने में आपके लिए वाधा वन जाता है। संभवतः आपने अपनी पत्नी या अपने पति अथवा अपनी प्रेमिका या अपने प्रेमी को भी कभी नहीं देखा है, क्योंकि आपने उसके वारे में अपने मन में एक प्रतिमा वना रखी है। जो प्रतिमा आपने उसके वारे में या स्वयं अपने वारे में वना रखी है वह आपके देखने में वाधा वनने जा रही। इसलिए जव आप देखते हैं तो इस देखने में विकृति आ जाती है, विसंगति आ जाती है। अतः जव आप देखें, तो अवलोकन करनेवाले और अवलोकन की जानेवाली वस्तु के वीच एक आत्मीय सम्वन्ध होना चाहिए। कृपया इस वात को हृदयंगम करलें, क्योंकि इसके लिये परम सावधानी चाहिये। आपको पता होगा, जव आप किसी चीज़ के प्रति सावधान होते हैं, तो आप उसका ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हैं; जिसका अर्थ है, उस समय आप स्नेह से भरे होते हैं—और तभी आप वस्तुतः अवलोकन करने में समर्थ हैं।

अतः मिलजुलकर एक साथ देखने का अर्थ है सावधानी और स्नेह के साथ अवलोकन करना, ताकि हम साथ-साथ बिलकुल एक ही चीज को देख पायें। परन्तु सर्वप्रथम आपके पास आपकी अपनी जो प्रतिमा है उससे मुक्ति होनी चाहिए। कृपया इसे सुनने के साथ ही इसे कर डालें—अर्थात् स्वयं को अपनी प्रतिमा से मुक्त कर डालें। इसे याद रखें कि वक्ता मात्र एक दर्पण है और इसलिए इस दर्पण में आपको जो दिखाई पड़ता है वह आप स्वयं हैं। अतः वक्ता किसी भी तरह महत्वपूर्ण नहीं है; महत्वपूर्ण वही है जो आप इस दर्पण में देखते हैं। और बिना किसी विकृति के साफ-साफ और सही-सही देखने के लिए आपके सभी पूर्वाग्रह समाप्त हो जाने चाहिए, हर प्रकार की प्रतिमा विदा हो जानी चाहिए—यह प्रतिमा कि आप भारतीय या अमरीकन हैं, हिन्दू या ईसाई हैं, धनी या गरीब हैं। और ये सब के सब उसी क्षण विदा हो जाते हैं जब आप अपने सामने की वस्तु को स्पष्टतापूर्वक देखते हैं। और आप जो देखते हैं वही अधिक महत्वपूर्ण है न कि यह बात कि आप जो देखते हैं उससे आपको क्या 'करना चाहिए'। जब आप अत्यंत स्पष्टता से देखते हैं, तो उस स्पष्टता से ही क्रिया का जन्म होता है। जो मन अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित होता है तथा जो चुनाव करने में लगा रहता है, केवल ऐसा मन ही पूछता है "आखिर मैं करूँ तो क्या करूँ?" राष्ट्रीयता एक खतरनाक चीज है—विभिन्न कौमों और जातियों के बीच विभाजन; यह विभाजन सबसे बड़ा खतरा है, क्योंकि विभाजन में असुरक्षा है, अनिश्चितता है, युद्ध है। परन्तु जब मन इस विभाजन के खतरे को अत्यंत स्पष्टतापूर्वक देख लेता है—बौद्धिक रूप से नहीं, भावनात्मक रूप से भी नहीं, बल्कि वास्तविक रूप से—तो एक सर्वथा भिन्न प्रकार की क्रिया जन्म लेती है।

अतः यह सीखना अत्यंत आवश्यक है कि कैसे देखें, कैसे अवलोकन करें। और आखिर हम किस चीज का अवलोकन कर रहे हैं? केवल बाहरी घटना का नहीं बल्कि मनुष्य की आंतरिक दशा का भी; क्योंकि जब तक मनुष्य के मानस में एक मौलिक और आत्यंतिक क्रांति नहीं आ जाती तब तक परिधिगत काट-छाँट और वैधानिक परिवर्तन का शायद ही कोई मतलब है। अतः हमारा सरोकार जिस बात से है वह यह है—क्या मनुष्य, जैसा वह है, स्वयं के भीतर एक आमूल रूपांतरण ला सकता है? किसी विशेष सिद्धांत या किसी विशेष दर्शन (फिलौसफि) द्वारा नहीं बल्कि वस्तुतः जो वह है, उसे देखने के द्वारा। जो वह है, उसका अवलोकन ही आमूल परिवर्तन ले आयेगा। और जो कार्य सबसे आवश्यक और महत्वपूर्ण है वह है उसको देखना जो वह है—न कि जो वह सोचता है कि वह है, न कि जो उसे बताया जाना है कि वह है।

दो स्थितियों की कल्पना कीजिये। एक, जब कोई आपसे कहता है कि आप भूखे हैं और दूसरा, जब आप सचमुच भूखे होते हैं—इन दोनों बातों में फर्क है। ये

दो सर्वथा भिन्न दशाएँ हैं। जब आप वस्तुतः स्वयं अपने प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभूति द्वारा यह जानते हैं कि आप भूखे हैं, तो आपसे क्रिया होती है। किन्तु यदि आपसे कहा जाय कि आप भूखे हो सकते हैं, तो फिर आपसे एक बिलकुल ही भिन्न तरह की क्रिया होगी। इसी प्रकार व्यक्ति को स्वयं अपने लिए यह अवलोकन करना और देखना होगा कि वह वस्तुतः क्या है। और यही हम करने भी जा रहे हैं—स्वयं को जानना। स्वयं को जानना सर्वोच्च विवेक और बुद्धिमत्ता है, किन्तु बहुत थोड़े से व्यक्तियों ने ही स्वयं को जाना है। हमारे पास वह धैर्य, तीव्रता, आवेग और उत्कटता नहीं है जो हम पता लगा सकें कि हम क्या हैं। हमारे पास ऊर्जा है, किन्तु यह ऊर्जा हमने दूसरों को सौंप दी है। तो हम कैसे पता लगायेंगे कि हम क्या हैं?

हम स्वयं के अवलोकन द्वारा ही यह पता लगाने जा रहे हैं; क्योंकि हम जो कुछ हैं उसमें किसी क्षण एक आमूल परिवर्तन होगा, हम जगत में शान्ति ले आयेंगे। हम स्वतन्त्रतापूर्वक जियेंगे, जिसका यह अर्थ नहीं कि हम जो चाहेंगे वह करेंगे, बल्कि हम सुखपूर्वक जियेंगे—हर्ष और आनंद के साथ। जिस आदमी के हृदय में परम हर्ष और आनंद है, उसके पास घृणा और हिंसा नहीं होती, वह दूसरे का विनाश नहीं करता। स्वतंत्रता का अर्थ है, आप अपने भीतर जो कुछ देखें उसके प्रति बिलकुल ही निंदा का भाव न हो। और हममें से अधिकांश व्यक्ति ही निन्दा करते हैं या सफाई देते हैं या औचित्य सिद्ध करते हैं—हम समर्थन या निंदा के बिना कभी देखते ही नहीं। इसलिए पहली चीज जो करने की है—और सम्भवतः यही अन्तिम चीज भी है करने की—वह है किसी भी प्रकार की निन्दा के बिना अवलोकन करना। और यह आसान काम नहीं है, क्योंकि हमारी पूरी संस्कृति और परम्परा यही कहती आयी है कि हम जो कुछ हैं उसकी हम निन्दा करें या उसका समर्थन करें या उसकी तुलना किसी और चीज से करें। इसलिए हम प्रायः ऐसा कहते हैं—"यह सही है", "यह गलत है", "यह सत्य है", "यह मिथ्या है", "यह सुन्दर है"—और यही कारण है कि हम जो कुछ हैं उसका हम ठीक-ठीक अवलोकन नहीं कर पाते।

कृपया इसे अच्छी तरह सुन और समझ लें: आप जो कुछ हैं वह एक जीवित चीज है, और आप अपने भीतर जो कुछ देखते हैं उसकी जब आप निन्दा करते हैं तो आप उस स्मृति के आधार पर निन्दा कर रहे हैं जो मृत है, जो अतीत है। इस प्रकार स्पष्टतः जीवित वर्तमान और मृत अतीत के बीच एक असंगति खड़ी हो जाती है। जो जीवित है उसे समझने के लिए, जो अतीत है उसे चला ही जाना होगा—ताकि आप वर्तमान में ठहरकर देख सकें, अवलोकन कर सकें। और इसे आप अभी कर सकते हैं, अर्थात् इस बातचीत के दौरान ही—घर लौटकर इस पर सोचने-विचारने की जरूरत नहीं। क्योंकि जैसे ही आप इस पर सोचते-विचारते हैं कि आप

चूक जाते हैं । इसका यह अर्थ नहीं कि हम यहाँ समूह-चिकित्सा का प्रयोग कर रहे हैं अथवा सार्वजनिक स्वीकारोक्ति दे रहे हैं—ये तो वचकानी वातें हैं । जो हम कर रहे हैं वह यह है कि हम अपने भीतर जाकर छानवीन कर रहे हैं, वैज्ञानिकों की भाँति—विना किसी पर निर्भर हुए । यदि आप किसी व्यक्ति पर आस्था रखते हैं तो आपका भटक जाना अवश्यभावी है—चाहे यह आस्था अपने गुरु पर हो, अपने मनोविश्लेषक पर हो या आस्था स्वयं अपनी ही स्मृति, अपने ही अनुभव पर क्यों न हो—क्योंकि यह अतीत है । और यदि आप वर्तमान को अतीत की आँखों से देख रहे हैं तो आप कभी नहीं समझ पायेंगे कि जीवित चीज क्या होती है ।

तो हम साथ-साथ इस जीवित चीज की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं—जीवित चीज यानी जो आप हैं, जो यह जीवन है, तथा यह और चाहे जो कुछ भी हो । हम अपने आन्तरिक जगत के किसी भी तथ्य और घटना को लें तथा इसे देखें । उदाहरण के तौर पर हम हिंसा को लें एवं सर्वप्रथम अपने भीतर की हिंसा को देखें और तव वाहरी हिंसा को देखें । जव हम अपने भीतर की हिंसा को समझ जायेंगे तो वाहरी हिंसा को देखना आवश्यक नहीं भी हो सकता है, क्योंकि हम अपने भीतर जो कुछ है वही हम वाहर प्रक्षेपित करते हैं । हमने प्रकृति द्वारा, आनुवंशिकता द्वारा, तथाकथित विकास द्वारा अपने भीतर इस हिंसा को जन्म दिया है । यह एक तथ्य है—हम हिंसक मानव हैं । हम हिंसक क्यों हैं, इसकी हजार व्याख्याएँ हैं । किन्तु हम व्याख्याओं में नहीं उलझेंगे अन्यथा हम भटक सकते हैं, क्योंकि हर विशेषज्ञ की अपनी व्याख्या होगी, अपना निष्कर्ष होगा—कि यही है हिंसा का असली कारण ! हमारे पास जितनी अधिक व्याख्याएँ होती हैं उतना ही हम सोचते हैं कि हमने समझ लिया है—परन्तु तथ्य ज्यों का त्यों बना रहता है । अतः कृपया हर समय ख्याल में रखें कि किसी भी तथ्य की व्याख्या स्वयं वह तथ्य नहीं है, किसी भी चीज का वर्णन स्वयं वह वर्णित चीज नहीं है । हिंसा की ऐसी अनेक व्याख्याएँ हैं जो वहुत कुछ सरल और स्पष्ट हैं—महानगरों की भीड़भाड़, अत्यधिक जनसंख्या, आनुवंशिकता और इसी तरह की अन्य वातें । किन्तु हम इस सवको किनारे रख सकते हैं । क्योंकि तथ्य तो यही है कि हम हिंसक लोग हैं । वचपन से ही हमें हिंसक, प्रतिस्पर्धात्मक और एक दूसरे के प्रति पाशविक होने के लिए शिक्षित और संस्कारित किया जाता है । दुर्भाग्यवश हमने इस तथ्य का कभी नहीं सामना किया है । तो अव हम पूछ रहे हैं, "हिंसा के सम्वन्ध में हम क्या करेंगे ?"

कृपया इसे सावधानीपूर्वक अर्थात् स्नेहपूर्वक और ध्यानपूर्वक सुनें । जव आप इस तरह का प्रश्न उठाते हैं—हम इस सम्वन्ध में क्या करेंगे—तो आपका उत्तर सदा अतीत के अनुसार ही होगा । क्योंकि अतीत ही एकमात्र चीज है जिसका आपको पता है—आपका समस्त अस्तित्व अतीत पर आधारित है, आपका जीवन अतीत मात्र है ।

यदि आपने कभी सही ढंग से स्वयं को देखा है, तो आपने ध्यान दिया होगा कि आप किस असाधारण सीमा तक अतीत में जी रहे हैं। समस्त विचार-प्रक्रिया अतीत की प्रतिक्रिया है अर्थात् यह स्मृति, ज्ञान और अनुभव की प्रतिक्रिया है। इस प्रकार विचार-प्रक्रिया कदापि नया नहीं है, कदापि मुक्त नहीं है। विचार की इसी प्रक्रिया के साथ आप जीवन को देखते हैं, और इसलिए जब आप पूछते हैं कि हिंसा के सम्बन्ध में मैं क्या करूँ, तो इसका अर्थ है कि आप तथ्य से पहले ही पलायन कर चुके हैं।

तो हिंसा क्या है—क्या इसे हम जान सकते हैं और इसका अवलोकन कर सकते हैं? अब प्रश्न यह है: आप हिंसा को कैसे देखते हैं? क्या आप इसकी निंदा करते हैं? क्या आप इसका समर्थन करते हैं? यदि नहीं, तो आप इसे कैसे देखते हैं? आप इसे अभी ही क्यों नहीं देखते—इस चर्चा के दौरान ही! और यह देखना वस्तुतः अत्यावश्यक है। हिंसा के तथ्य को—और यह तथ्य, एक हिंसक मानव के रूप में, आप स्वयं हैं—क्या इस तथ्य को आप एक बाहरी व्यक्ति की तरह देखते हैं, भीतर की ओर झाँकते हुए? अथवा देखते समय आप एक बाहरी व्यक्ति नहीं रहते, नियंत्रक और निर्णायक नहीं रहते? जब आप देखते हैं तो क्या उस समय आप एक द्रष्टा बने रहते हैं? द्रष्टा, जो स्वयं को उस चीज से भिन्न मानता है जिसे यह देखता है। द्रष्टा, जो कहता है, "मैं हिंसक हूँ, परन्तु मैं हिंसा से छुटकारा पाना चाहता हूँ।" जब आप इस ढंग से देखते हैं, तो आप एक खण्ड को अन्य खण्डों से अधिक महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं। पहला खण्ड द्रष्टा स्वयं है और दूसरे खण्ड वे दृश्य हैं जिसे द्रष्टा देख रहा है।

इस प्रकार जब आप एक खण्ड बनकर देखते हैं जो दूसरे खण्डों को देख रहा है, तो वह एक खण्ड सत्ता धारण कर लेता है, और यह सत्ता असंगति एवं द्वन्द्व उत्पन्न करती है। किन्तु जब आप इस खंड से मुक्त होकर देखते हैं तभी आप द्रष्टा-रहित होकर समग्र को देख पाते हैं। क्या यह सब आप समझ रहे हैं? यदि हाँ, तो महाशय, कृपया इसे स्वयं कीजिये। क्योंकि तब आप एक असाधारण और अपूर्व चीज घटित होते हुए देखेंगे, तब द्वंद्व स्वतः आपसे विदा हो जायेगा। द्वंद्व वही है, जो हम हैं, जिसके साथ हम जीते हैं। घर में, कार्यालय में सोते-जागते—हर समय हम द्वंद्व में रहते हैं, एक सतत् संग्राम और असंगति की स्थिति में हम जीते हैं।

अतः जब तक आप स्वयं इस असंगति की जड़ को नहीं 'समझ' लेते तब तक आपको सुख-शांति और आनंद का जीवन उपलब्ध नहीं हो सकता। और यह 'समझ' वक्ता या किसी अन्य व्यक्ति के कहे अनुसार नहीं होनी चाहिए बल्कि यह 'समझ' स्वयं आपके भीतर घटित होनी चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि आप इसे समझें कि कौन सी चीज द्वंद्व उत्पन्न करती है और इस प्रकार असंगति भी, अर्थात् इनका मूल कारण

क्या है। मूल कारण वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य के बीच विभाजन है। द्रष्टा कहता है, "मुझे हिंसा से छुटकारा पाना ही चाहिए" या "मैं एक अहिंसा का जीवन जी रहा हूँ," जबकि वह वस्तुतः हिंसा से भरा हुआ है तथा अहिंसा का केवल ढोंग और दिखावा कर रहा है। अतः इस विसंगति और विभाजन के कारण का पता लगाना ही सर्वोच्च महत्व की बात है।

आप यहाँ एक ऐसे वक्ता को सुन रहे हैं जिसकी कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि यहाँ न कोई गुरु है न कोई शिष्य; यहाँ केवल मानव हैं, ऐसे मानव जो एक द्वंद्वरहित जीवन का पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं—शांतिपूर्वक जीने के लिए, अगाध प्रेम के साथ जीने के लिए। किन्तु यदि आप किसी व्यक्ति का अनुसरण कर रहे हैं तो आप न केवल अपना सर्वनाश कर रहे हैं बल्कि उस व्यक्ति का भी। (करतल-ध्वनि)। कृपया तालियाँ न बजायें। मैं आपका मनोरंजन करने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ, मुझे आपकी वाहवाही भी नहीं चाहिए। जो बात महत्वपूर्ण और आवश्यक है वह यह कि आप और मैं एक भिन्न प्रकार के जीवन को समझूँ और जिऊँ—इस नीरस और बेकार जीवन को नहीं जिसे व्यक्ति जिये चला जा रहा है। और आपकी वाहवाही तथा आपकी सहमति या असहमति इस तथ्य को नहीं बदलती।

स्वयं अपने अवलोकन द्वारा इस बात को अपने लिए देख और समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि जब तक द्रष्टा और दृश्य के बीच विभाजन मौजूद है तब तक द्वंद्व भी स्थायी रूप से कायम रहेगा—'मैं' के रूप में, 'अहं' के रूप में, और यह 'मैं' सदा किसी और व्यक्ति से भिन्न होने की चेष्टा करता रहता है। क्या यह बात स्पष्ट है? स्पष्टता का अर्थ है कि आप इस बात को अपने लिए स्वयं देखें। यह मात्र शाब्दिक स्पष्टता नहीं है—कुछेक शब्दों और विचारों को सुन लेना। वस्तुतः इस स्पष्टता का अर्थ है कि आप स्वयं बिना किसी चुनाव के अत्यंत स्पष्टतापूर्वक देख रहे हैं कि द्रष्टा और दृश्य के बीच का यह विभाजन किस प्रकार उपद्रव, अव्यवस्था और दुःख का सृजन करता है। तो जब आप हिंसक हो जायें उस समय क्या आप अपने भीतर हिंसा को देख सकते हैं, बिना उस स्मृति, औचित्य और आग्रह के कि मुझे हिंसक होना ही नहीं चाहिए? बल्कि आप उस हिंसा को केवल देखें। इसका अर्थ है कि आपको अतीत से मुक्त होना चाहिए। देखने का अर्थ है कि आपके पास वृहत् ऊर्जा होनी चाहिए, आपके पास तीव्रता होनी चाहिए। आपके पास आवेग, आवेश और उत्कटता होनी चाहिए, अन्यथा आप देख ही नहीं सकते। जब तक आपके पास परम उत्कटता और तीव्रता नहीं है तब तक आप किसी बादल के सौंदर्य को नहीं देख सकते, उन अद्भुत पहाड़ियों को नहीं देख सकते जो यहाँ चारों ओर फैली हुई हैं। इसी तरह से, द्रष्टारहित होकर स्वयं को देखने के लिए प्रचंड ऊर्जा और उत्कटता होनी चाहिए। और यह उत्कटता, यह तीव्रता तब नष्ट हो जाती है जब आप निंदा या समर्थन करने लगते हैं, जब आप

कहते हैं, "मुझे ऐसा नहीं होना चाहिए," "मुझे ऐसा होना ही चाहिए" या जब आप कहते हैं "मैं एक अहिंसक जीवन जी रहा हूँ" अर्थात जब आप अहिंसक जीवन जीने का ढोंग करते हैं।

यही कारण है कि समस्त विचारधाराएँ अत्यंत विनाशकारी हैं। भारत में अति-प्राचीन समय से हिंसा की चर्चा होती रही है। उनका कहना है कि हम अहिंसा की साधना कर रहे हैं, और वस्तुतः वे उतने ही हिंसक हैं जितना कोई भी व्यक्ति। अहिंसा का आदर्श उन्हें तथ्य से एक पाखंडपूर्ण पलायन की अनुभूति देता है। यदि आप समस्त विचारधाराओं और सिद्धांतों को एक किनारे रख कर सीधे-सीधे तथ्य का सामना कर सकते हैं, तो इसका अर्थ है कि अब आपका सम्बन्ध वास्तविक चीज से है—पौराणिक और सैद्धान्तिक चीजों से नहीं।

अतः पहली चीज यही है : द्रष्टारहित होकर देखना और अवलोकन करना; अपनी पत्नी, अपने बच्चों को बिना किसी प्रतिमा के देखना। यह प्रतिमा एक सतही प्रतिमा हो सकती है अथवा यह अचेतन के गर्भ में छिपी हुई प्रतिमा हो सकती है। तो आपको न केवल उस प्रतिमा का अवलोकन करना है जिसे आपने अपने बाह्य संबंधों में निर्मित कर रखा है बल्कि उन प्रतिमाओं का भी, जिन्हें आपने अपने अन्तरतम में सजो रखा है—कौम और जाति की प्रतिमा, संस्कृति की प्रतिमा तथा आपके पास स्वयं आपकी अपनी जो प्रतिमा है उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य। अतः आपको न केवल चेतन तल पर अवलोकन करना चाहिए बल्कि अपनी चेतना के अज्ञात तलों पर भी जाकर अवलोकन करना चाहिए—अपने मन के गुप्त स्थानों में पैठकर।

पता नहीं, आपने कभी मन के अचेतन हिस्से का अवलोकन किया है या नहीं। क्या इस सब में आपकी दिलचस्पी है ? क्या आप जानते हैं कि यह सब कितना कठिन है ? किसी व्यक्ति को उद्धृत करना अथवा आपके मनोविश्लेषक या प्रोफेसर ने आपको जो बताया है उसे दोहराना एकदम आसान है—यह बच्चों का खेल है। किन्तु यदि आप इनके बारे में जानने के लिए किताबें पढ़ने के बजाय स्वयं अवलोकन करें तो आप देखेंगे कि यह कार्य कितना कठिन है ! यह पता लगाना आपके ध्यान का अंग है कि अचेतन मन को कैसे देखें—स्वप्नों द्वारा नहीं, अंतः प्रेरणा द्वारा नहीं, क्योंकि आपकी अन्तः प्रेरणा भी आपकी कामना, गुप्त इच्छा और आशा का ही दूसरा रूप हो सकती है। अतः आपको पता लगाना है कि आपने बाह्य रूप से अपने बारे में जो प्रतिमा या प्रतीक निर्मित कर रखा है उसे कैसे देखें—और साथ ही साथ अपने भीतर गहराई पूर्वक कैसे देखें।

आपको न केवल बाह्य चीजों के प्रति सजग होना चाहिए बल्कि जीवन की आंतरिक गति के प्रति भी—अर्थात् भय, दुःख, चिन्ता, प्रयोजन, इच्छा आदि की

आन्तरिक गति के प्रति। चुनाव रहित ढंग के सजग होने का अर्थ है—किसी व्यक्ति के कपड़ों के रंग के प्रति सजग होना, विना यह भाव मन में लाये हुए कि यह रंग मुझे पसंद है या यह रंग मुझे पसंद नहीं, वल्कि सिर्फ अवलोकन करना; जव आप वस में वैठें तो अपने विचार की गति का अवलोकन करना, विना किसी निंदा, समर्थन या चुनाव के। जव आप इस ढंग से देखेंगे तो आप पायेंगे कि वहाँ 'द्रष्टा' नहीं होता। द्रष्टा का अर्थ है एक नियंत्तक और निर्णायक सत्ता। दृष्टा यानी एक भारतीय, एक अमेरिकन, एक हिन्दू, एक ईसाई। द्रष्टा एक लम्वे प्रचार का परिणाम है। द्रष्टा स्वयं अतीत है। और जव अतीत देखता है तो यह अनिवार्यतः अलगाव पैदा करता है; यह निंदा या समर्थन करता है। जो व्यक्ति भूख से छटपटा रहा है, क्या वह कहता है, "यदि मैं इसे करूँ तो क्या मैं उसे पाऊँगा?" नहीं, वह तो अपनी पीड़ा और छटपटाहट से तत्क्षण मुक्त होना चाहता है, वह अपना पेट भरना चाहता है; वह सिद्धान्तों की वात नहीं करता। अतः महाशय, मैं कहना चाहूँगा कि सर्वप्रथम आप 'यदि' के विचार से स्वयं को मुक्त कर लें। भविष्य में मत जियें; भविष्य वहीं है जिसे आप 'अभी' यानी वर्तमान में निर्मित कर रहे हैं। और आपका वर्तमान भी वस्तुतः अतीत ही है। इसलिए जव आप कहते हैं कि मैं 'अभी' जी रहा हूँ, तो वस्तुतः आप अतीत में ही जी रहे हैं, क्योंकि अतीत ही आपको आकार और दिशा निर्देश दे रहा है। अतीत की स्मृतियाँ ही आपको इस तरह से या उस तरह से कार्य करने के लिए वाध्य कर रही हैं।

अतः 'जीने' का अर्थ हैं समय से मुक्त हो जाना; और जव आप कहते हैं, "यदि", तो आप समय को वीच में ला रहे हैं और समय ही सवसे वड़ा दुःख है।

प्रश्नकर्ता : **हम एक दूसरे के प्रति स्वयं कैसे हो सकते हैं ?**

कृष्णमूर्ति : इस प्रश्न को तो सुनिये—'स्वयं होना'। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आपका 'स्वयं' क्या है? जव आप 'दूसरे के प्रति स्वयं' की वात करते हैं, तो आपका यह स्वयं क्या है? आपका क्रोध, आपकी कटुता, आपकी कुंठाएँ, आपकी निराशाएँ, आपकी आशाएँ, आपकी हिंसा, आपमें प्रेम का नितांत अभाव—क्या यही सव वह है जो आप हैं? महाशय, ऐसा नहीं कहें कि मैं दूसरे के साथ स्वयं कैसे हो सकता हूँ। आप स्वयं को जानते ही नहीं हैं। आप यही सव हैं और दूसरा भी वही सव कुछ है—उसका दुःख, उसकी समस्याएं, उसकी मनोदशाएँ, उसकी कुंठाएँ, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ—और हर व्यक्ति इन्हीं चीजों से निर्मित एक अलगाव और पृथक्ता में जीता है। जव ये वाधाएँ और परस्पर प्रतिरोध समाप्त हो जाते हैं तभी आप दूसरे के साथ आनन्दपूर्वक जी सकते हैं।

प्रश्नकर्ता : **आप चेतन मन को अचेतन मन से अलग क्यों करते हैं, जबकि आप अलगाव में विश्वास नहीं करते ?**

कृष्णमूर्ति : यह काम आपलोग करते हैं—मैं नहीं ! (हँसी) पिछले कुछ दशकों के दौरान आपको यह सिखाया-समझाया गया है कि आपके पास अचेतन मन जैसी एक चीज है, इस पर एक नहीं अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, और मनोविश्लेषक इससे अपना धन बटोर रहे हैं। पानी तो पानी ही है; आप इसे सोने के पात्र में रखें या मिट्टी के पात्र में, यह पानी ही रहेगा। इसी तरह, किसी चीज को विभाजित नहीं करना वल्कि उसके समग्र रूप को देखना—यही हमारी समस्या है। अतः आप चेतन के समग्र रूप को ही देखें, चेतन या अचेतन के रूप में इसके एक विशेष खंड को नहीं। इसके समग्र रूप को देखना कठिनतम चीजों में से एक है, किन्तु इसके एक खंड को देखना बहुत कुछ सरल और आसान है। किसी चीज का समग्र रूप में देखने के लिए अर्थात् इसे स्वस्थचित्त होकर स्वस्थ दृष्टि से समग्रतापूर्वक देखने के लिए यह आवश्यक है कि आपके पास कोई भी केन्द्र न हो जिससे आप देखते हैं—केन्द्र अर्थात् 'मैं', 'तुम', 'हम', 'वे'।

यह कोई प्रवचन नहीं है, यह कोई भाषण नहीं है जिसे आप वेफिक्री से सुन लें और चले जायें। वस्तुतः आप यहाँ स्वयं को ही सुन रहे हैं; जो कहा जा रहा है उसे सुनने के लिए यदि आपके पास कान हैं तो आप इससे न सहमत हो सकते हैं, न असहमत—जो सच है वह हर हालत में सच है। और हम सचाई की इस छानबीन में साथ-साथ सहभागी हो रहे हैं, साथ-साथ संवाद कर रहे हैं तथा कार्य कर रहे हैं। इस कार्य में परम स्वतंत्रता, परम स्नेह एवं करुणा निहित है, और आखिरकार इसीसे जन्म होता है समझ का।

सैन्टा मॉनिका, कैलिफोर्निआ,
मार्च १, १९७०

२

मुक्ति

'जब तक मन भय से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता तब तक हर प्रकार की क्रिया वस्तुतः और अधिक उपद्रव, और अधिक दुःख, और अधिक अशांति ही उत्पन्न करती है।'

जैसा कि हम कह रहे थे, यह अत्यंत आवश्यक है कि मनुष्य के मानस में एक मौलिक परिवर्त्तन हो, और केवल पूर्ण मुक्ति द्वारा ही यह परिवर्त्तन घटित हो सकता है। 'मुक्ति' एक अत्यंत खतरनाक शब्द है, यदि हम इसके अर्थ को पूर्ण रूप से नहीं समझ लेते। इस शब्द में निहित इसके पूरे अर्थ को हमें समझना है, न कि मात्र शब्दकोश द्वारा प्राप्त अर्थ को समझना है। हममें से अधिकांश व्यक्ति इस शब्द का प्रयोग अपनी विशेष प्रवृत्ति या रूचि के अनुसार करते हैं अथवा राजनीतिक संदर्भ में ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं। परंतु हम इस शब्द का प्रयोग न तो राजनीतिक अर्थों में करने जा रहे हैं और नही किन्हीं विशेष परिस्थितियों के लिए। हम इस शब्द का प्रयोग इसके आंतरिक और मनोवैज्ञानिक अभिप्रायः को ध्यान में रखकर करने जा रहे हैं।

सबसे पहले हमें यह समझ लेना है कि 'सीखना' का क्या अर्थ है। जैसा कि हमने पिछले अवसर पर कहा, हम आपस में संवाद करने जा रहे हैं—संवाद अर्थात् एक साथ हिस्सा लेना, सहभागी होना—और सीखना इसी सहभागिता का एक अंग है। आप वक्ता से सीखने नहीं जा रहे हैं बल्कि स्वयं अपने अवलोकन से सीखने जा रहे हैं—वक्ता का उपयोग एक आईना की तरह करते हुए जिसमें आप अपने विचार और भाव की गति का अवलोकन करेंगे, अर्थात् जिसमें आप अपने सम्पूर्ण मानस और मनोविज्ञान का अवलोकन करेंगे। और इसमें सत्ता का अस्तित्व लेशमात्र नहीं है; यद्यपि वक्ता को एक मंच पर बैठना पड़ रहा है—केवल सुविधा की दृष्टि से—वरना यह स्थान उसे किसी प्रकार की सत्ता नहीं देता। तो हम सीखने के प्रश्न पर विचार कर रहे हैं—वक्ता से सीखना नहीं बल्कि स्वयं के बारे में सीखने के लिए वक्ता का उपयोग करना। आप अपने मानस और अपने अहं के अवलोकन से सीख रहे हैं—आपका यह मानस और अहं चाहे जो कुछ भी हो। और सीखने के लिए न केवल स्वतंत्रता एवं अत्यधिक जिज्ञासा होनी चाहिए बल्कि तीव्रता, उत्कटता और एक तत्परता भी। यदि आपमें खोजने और जानने की ऊर्जा और उत्कटता नहीं है, तो आपके लिए सीखना सम्भव नहीं

है। यदि आपमें किसी तरह का पूर्वाग्रह और पक्षपात है अथवा पसन्द, नापसंदगी या निंदा का भाव है, तब भी सम्भवतः आप सीख नहीं सकते; तब आप जो अवलोकन करेंगे उसे तोड़-मरोड़ कर विकृत ही करेंगे।

आध्यात्मिक जगत् के अनुशासन में यह देखने को मिलता है कि आप किसी ऐसे व्यक्ति से सीखते हैं जो जानता है। चूँकि वहाँ यह मान लिया जाता है कि आप नहीं जानते, अतः आपको एक जानकार व्यक्ति से सीखना पड़ता है। किन्तु यहाँ 'अनुशासन' से हमारा अभिप्रायः दूसरे से सीखना नहीं है बल्कि स्वयं का अवलोकन करना है, जिसके लिए एक ऐसा अनुशासन चाहिए जो दमन, अनुकरण या अनुसरण नहीं है, जो किसी चीज के साथ स्वयं का समन्वय और सामंजस्य भी नहीं है बल्कि जो वास्तविक अवलोकन है। यह अवलोकन ही अनुशासन की क्रिया है—जिसका अर्थ है अवलोकन द्वारा सीखना। यह सीखने की क्रिया ही स्वयं अपना अनुशासन है—इस अर्थ में कि तब आपको अत्यधिक ध्यान देना पड़ता है तथा आपको अपने भीतर वृहत् ऊर्जा, तीव्रता और क्रिया की तत्परता लानी पड़ती है।

हम भय के सम्बन्ध में चर्चा करने जा रहे हैं और भय की छानबीन करने के लिए हमें बहुत सारी बातों पर विचार करना होगा, क्योंकि भय एक अत्यंत जटिल समस्या है। जब तक मन भय से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता तब तक हर प्रकार की क्रिया वस्तुतः और अधिक उपद्रव, और अधिक दुःख, और अधिक अशान्ति ही उत्पन्न करती है। अतः हम इस बात को जाँच-पड़ताल, साथ-साथ करने जा रहे हैं कि भय में कौन सी चीज निहित है और इससे पूर्णतः मुक्त होना किसी तरह सम्भव है या नहीं—भविष्य में नहीं, कल नहीं—बल्कि जब आप यहाँ से जायें तो भय का बोझ, भय का अंधेरा, भय की पीड़ा और भय की भ्रष्टता सदा के लिए आपका साथ छोड़ चुकी हो।

भय को समझने के लिए आपको सबसे पहले अपनी 'क्रमिकता' (gradualness) की धारणा की परीक्षा करनी होगी, अर्थात् किसी चीज को क्रमशः उपलब्ध करने की जो आपकी धारणा है उसकी जाँच पड़ताल—जैसे, भय से क्रमशः छुटकारा पाने की धारणा। भय से क्रमश छुटकारा पाने जैसी कोई चीज होती ही नहीं। आप या तो पूर्णतः इससे मुक्त होते हैं या बिल्कुल ही नहीं, किन्तु क्रमशः नहीं होते, जिसमें समय निहित है—समय न केवल कालक्रमिक अर्थ में बल्कि मनोवैज्ञानिक अर्थ में भी। और भय का जो सारभूत तत्व है उसी की पैदाइश है समय-जैसा कि सन्दर्भवश अभी हम कहना चाहेंगें। तो जिन संस्कारों में आप शिक्षित किये गये हैं उनको एवं भय को समझ कर, तथा उनसे मुक्त होकर ही आप, किसी चीज को धीरे-धीरे अर्थात् क्रमशः करने की जो आपकी धारणा है, उसका पूर्णतः अन्त कर सकते हैं। और यही हमारी पहली कठिनाई होने जा रही है।

मैं पुनः कहना चाहूँगा कि यहाँ कोई भाषण नहीं दिया जा रहा है; वस्तुतः यहाँ दो अंतरंग और स्नेही मित्र (श्रोता एवं वक्ता) साथ-साथ एक अत्यंत कठिन समस्या की छानबीन कर रहे हैं। मनुष्य भय के साथ जीता रहा है, उसने इसे अपने जीवन के एक अंग के रूप में स्वीकार कर रक्खा है, और हम भय का अन्त करने की संभवता या वल्कि असंभवता कहें—उसकी छानबीन कर रहे हैं। आप जानते है कि जो सम्भव है वह तो पहले ही किया जा चुका है, पहले ही खत्म हो चुका है। क्या ऐसा नहीं है ? यदि यह सम्भव है तो इसका अर्थ है कि आप इसे कर ही सकते हैं। किन्तु जो चीज असंभव है वह संभव तभी बनती है जब आप समझ लेते है कि आनेवाला कल कोई है ही नहीं—मनोवैज्ञानिक अर्थों में। भय जैसी असाधारण समस्या हमारे सामने खड़ी है और हम देख रहे हैं कि मनुष्य कभी भी पूर्ण रूप से इससे मुक्त नहीं हो पाया हैं। न केवल शारीरिक रूप से वल्कि आंतरिक और मनोवैज्ञानिक रूप से भी उसे कभी इससे मुक्ति नहीं मिली; वह धार्मिक तथा अन्य विभिन्न प्रकार के मनोरंजन द्वारा सदा इससे पलायन करता रहा है। और इन पलायनों के कारण 'जो है' उसकी उपेक्षा होती रही है। अतः हमारा सरोकार भय से पूर्णतः मुक्त होने की असंभवता के साथ है—और इसलिए जो 'असंभव' है वह संभव वन जाता है।

भय वस्तुतः क्या है ? जितने प्रकार के भी शारीरिक भय हैं, उन्हें अपेक्षाकृत आसानी से समझा जा सकता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक भय कुछ ज्यादा ही जटिल होते हैं और उन्हें समझने के लिए छानबीन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, जिसका अर्थ है कि उनके वारे में कोई विचार और मत कायम नहीं करना तथा भय का अन्त करने की सम्भावना की तार्किकता पूर्ण छानबीन नहीं करना। लेकिन सबसे पहले हम शारीरिक भय को लें, जो स्वाभाविक रूप से हमारे मानस को प्रभावित करता है। जब किसी तरह के खतरे से आपका सामना होता है तो तत्क्षण आपकी शारीरिक प्रतिक्रिया होती है। क्या यह भय है ?

यहाँ मैं पुनः आपको याद दिला दूँ कि आप वक्ता से नहीं सीख रहे हैं। अतः आपको वहुत अधिक ध्यान देना पड़ेगा। क्योंकि इससे कोई फायदा नहीं कि आप इस तरह की सभा में आइये और कुछेक विचारों और सूत्रों को लेकर चलते वनिये—ऐसा करना आपके मन को भय से मुक्त नहीं करेगा। किन्तु जो कार्य आपके मन को भय से पूर्णतः और समग्रतः मुक्त करेगा वह है भय को एक दम तत्काल समझना—कल नहीं वल्कि अभी। यह किसी चीज को पूर्णतः और समग्रतः देखने के समान है; क्योंकि जिस चीज को भी आप पूर्णतः देख लेते हैं उसे आप समझ जाते हैं। और तब यह समझ आपकी है—किसी और की नहीं।

तो पहली चीज है शारीरिक भय, जैसे—अचानक अपने को एक ऊँची चट्टान के कगार पर खड़े हुए पाना या एक जंगली जानवर से सामना हो जाना। ऐसे खतरों से

सामना हो जाने पर जो हमारी प्रतिक्रिया होती है, क्या वह शारीरिक भय है अथवा वह प्रज्ञा है ? जब अचानक आप एक साँप के सामने आ जाते हैं, तो आप तत्काल प्रतिक्रिया करते हैं। वह प्रतिक्रिया अतीत का संस्कार है, और वह कहती है, "सावधान हो जाओ।" और आपकी मनःशारीरिक प्रतिक्रिया तत्काल होती है, यद्यपि ऐसी प्रतिक्रिया संस्कारबद्ध होती है। यह प्रतिक्रिया अतीत का परिणाम है, क्योंकि आपको कभी कहा गया था कि यह जानवर खतरनाक होता है। तो किसी तरह के शारीरिक खतरे के उपस्थित होने पर जो चीज घटित होती है, क्या वह भय है ? अथवा वह आत्मरक्षा की आवश्यकता की दिशा में प्रज्ञा की सहज प्रतिक्रिया है ?

एक और तरह का भय यह होता है कि पहले की कोई शारीरिक पीड़ा या बीमारी फिर न उत्पन्न हो जाये। इस तरह के भय में क्या होता है ? क्या यहाँ प्रज्ञा कार्य करती है ? अथवा इस तरह का भय वस्तुतः विचार की ही एक क्रिया है, जो स्मृति की प्रतिक्रिया है—अर्थात् इस बात का भय कि अतीत में जो पीड़ा मुझे हुई थी वह कहीं फिर न उपस्थित हो जाये ? क्या इसे आप स्पष्टतः समझ रहे हैं कि विचार ही भय का निर्माण करता है ? तो जिस तरह अनेक प्रकार के शारीरिक भय होते हैं उसी तरह विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक भय भी होते हैं—समाज का भय, प्रतिष्ठित न होने का भय, लोग क्या कहेंगे इस बात का भय, अँधेरे का भय, इत्यादि। मनोवैज्ञानिक भय की जाँच-पड़ताल करने के पहले हम एक चीज बिल्कुल अच्छी तरह समझ लें कि हम अपना मनो-विश्लेषण नहीं कर रहे हैं। इस तरह के विश्लेषण का कोई भी सम्बन्ध अवलोकन करने और देखने से नहीं है। विश्लेषण में सदा दो चीजें होती हैं—एक विश्लेषक और दूसरा विश्लेषित। यह विश्लेषक उन अनेक खंड़ों में से एक खंड है जिनसे मिलकर हम बने हैं। अर्थात् हमारे अनेक खंडों में से ही एक खंड विश्लेषक की सत्ता ग्रहण कर लेता है और यह अन्य खंडों का विश्लेषण करने लगता है। अब, इसमें क्या निहित है ? विश्लेषक वह नियंत्रक और निर्णायक सत्ता है जो यह मान बैठा है कि उसके पास ज्ञान है, इसलिए उसे विश्लेषण का अधिकार है। किन्तु यदि वह बिना किसी विकृति के सही-सही और पूर्णतः विश्लेषण नहीं करता है, तो उसके विश्लेषण का मूल्य ही क्या है ! कृपया इसे बिलकुल अच्छी तरह समझ लें, क्योंकि वक्ता कभी भी किसी तरह के विश्लेषण को आवश्यक नहीं मानता। लेकिन यह बात कड़वा घूँट पीने के समान है, क्योंकि आप में से अधिकांश लोग या तो अपना मनोविश्लेषण करवा चुके हैं या करवाने जा रहे हैं, अथवा आपने इस तरह के विश्लेषण का अध्ययन किया है। वस्तुतः विश्लेषण की क्रिया में न केवक विश्लेषित से पृथक् एक विश्लेषक निहित है बल्कि इसमें समय भी निहित है। जिन खंडों से मिलकर आप बने हैं उसकी पूरी शृंखला का आपको थोड़ा-थोड़ा करके क्रमशः विश्लेषण करना पड़ता है, और इसमें वर्षों लग जाते हैं और

विश्लेषण करते समय मन को पूर्णतः साफ और स्पष्ट, स्वतंत्र और मुक्त रहना चाहिए।

इस प्रकार कई चीजें इसमें निहित हैं—विश्लेषक अर्थात् एक खंड, जो अपने को अन्य खंडों से पृथक् कर लेता है और कहता है, "मैं विश्लेषण करने जा रहा हूँ;" दूसरी चीज है समय, अर्थात् आज से कल और कल से परसों—देखते हुए, आलोचना करते हुए, निंदा करते हुए, फैसला करते हुए, मूल्यांकन करते हुए, याद करते हुए। और अन्तिम चीज जो निहित है वह है स्वप्नों का पूरा संसार; आप कभी यह प्रश्न नहीं करते कि स्वप्न देखना जरूरी है भी या नहीं—यद्यपि सभी मनोवैज्ञानिकों का यही कहना है कि स्वप्न देखना जरूरी है, अन्यथा आप पागल हो जायेंगे।

तो विश्लेषक कौन है ? वह आपका ही हिस्सा है, आपके मन का हिस्सा, और वहीं अन्य हिस्सों का विश्लेषण करने जा रहे हैं; वह अतीत के ज्ञान, अनुभव और मूल्यांकन का परिणाम है; वह स्वयं ही वह केन्द्र है जिससे वह विश्लेषण और जाँच-पड़ताल करने जा रहा है। क्या इस केन्द्र की कोई भी सत्यता और प्रामाणिकता है ? हम सभी एक केन्द्र से कार्य करते हैं, और क्या है यह केन्द्र ? यह केन्द्र भय, चिन्ता, लोभ, सुख, निराशा, आशा, निर्भरता, महत्त्वाकांक्षा और तुलना का एक केन्द्र है—और इसी केन्द्र से हमारा सारा सोच-विचार और हमारी सारी क्रिया होती है। यह कोई सिद्धान्त या मान्यता नहीं है बल्कि अपने दैनिक जीवन में अवलोकन करने लायक एक परम् तथ्य। इस केन्द्र में कई खंड हैं और इन्हीं खंडों में से एक खंड विश्लेषक बन जाता है—जो बिलकुल बेतुकी बात है, क्योंकि विश्लेषक ही वस्तुतः विश्लेषित की जाने वाली वस्तु है। इसे आप अच्छी तरह समझ लें ताकि जब हम भय की अत्यधिक गहराई से जाँच-पड़ताल करें तो उसे भी आप समझ सकें। यह सब आपको पूर्णरूप से समझना है, क्योंकि जब आप यहाँ से जायें तो आपको भय से मुक्त होना चाहिए—ताकि आप जी सकें, आनन्दित और आह्लादित हो सकें तथा इस जगत् को नयी आँखों से देख सकें; ताकि आपका परस्पर सम्बन्ध अब पुनः भय, ईर्ष्या और निराशा से बोझिल न हो पाये; ताकि अब आप एक मानव रहें, एक खतरनाक और हिंसक जानवर नहीं।

इस प्रकार विश्लेषक ही विश्लेषित वस्तु है, और विश्लेषक तथा विश्लेषित के बीच अलगाव में ही द्वन्द्व की पूरी प्रक्रिया मौजूद है। और विश्लेषण में समय भी निहित है—इसलिए जबतक आप हर चीज का विश्लेषण पूरा कर पायेंगे तब तक आपके कब्र में जाने का या चिता पर चढ़ने का समय भी आ जायेगा और इस तरह आप जीने से वंचित रह जायेंगे। (हँसी)। नहीं, कृपया हँसे नहीं; यह कोई मनोरंजन नहीं है, यह एक अतिशय गंभीर प्रश्न है। जो व्यक्ति तत्पर और गंभीर होता है, वही जान पाता है कि जीवन क्या है, जीना क्या है—वह व्यक्ति नहीं जो मनबहलाव की

खोज करता रहता है। अतः इसके लिए खोजबीन करने की परम् गम्भीरता और तत्परता चाहिए।

मन को विश्लेषण के विचार और धारणा से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए, इसकी निरर्थकता को देखते हुए। आपको इसे देखना चाहिए—इसलिए नहीं कि वक्ता कह रहा है वल्कि इसलिए कि विश्लेषण की पूरी प्रक्रिया की सचाई अव आपके सामने प्रकट है। और यह सचाई ही समझ को जन्म देगी; वस्तुतः सचाई स्वयं ही एक समझ है—विश्लेषण की भ्रांति और असत्यता की समझ। अतः अव आप उस चीज को देख लेते हैं जो असत्य और मिथ्या है, तो उसे आप पूर्णतः दूर कर सकते हैं। जब हम नहीं देख पाते हैं तभी वस्तुतः हम भ्रांति के शिकार हो जाते हैं।

अव क्या हम भय की जाँच-पड़ताल उसके समग्र रूप में कर सकते हैं? भय के असंख्य मनोवैज्ञानिक रूप की जाँच-पड़ताल नहीं वल्कि एक धारा की तरह बहता हुआ भय के समन्वित रूप की जाँच-पड़ताल। यद्यपि भय के विभिन्न कारण हो सकते हैं, जिनका जन्म विभिन्न प्रतिक्रियाओं और प्रभावों से होता है—किन्तु भय अपने आप में अकेला है, और भय का स्वयं अपना अस्तित्व नहीं होता हैं; भय सदा किसी चीज के सम्वन्ध में होता है, जिसे समझना बहुत कुछ सरल और आसान है। आपको किसी न किसी चीज का भय हो सकता है—भविष्य या अतीत का भय, किसी इच्छा को पूरा न कर पाने का भय; प्रेम न पाने का भय, एक दुःखद और एकाकी जीवन बिताने का भय, वुढ़ापा और मृत्यु का भय।

अतः भय दोनों तरह के हो सकते हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, अर्थात् प्रकट और अप्रकट। हम जिस चीज की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं वह किसी खास तरह का भय नहीं है वल्कि वह भय का समग्र रूप है—ज्ञात भय और अज्ञात भय दोनों। तो भय कैसे उत्पन्न होता है? यह प्रश्न करते हुए आपको यह भी पूछना होगा कि सुख क्या है। क्योंकि भय और सुख दोनों साथ-साथ चलते हैं। सुख को समझे विना आप भय को अपने से अलग नहीं कर सकते; वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः भय से सम्बन्धित सचाई की समझ में ही सुख से सम्वन्धित सचाई की समझ निहित है। केवल सुख को चाहना और भय का सामना न करना—यह एक असम्भव माँग है। किन्तु यदि आप इन दोनों को ही समझ जायें तो आपके पास इनकी एक विल्कुल ही भिन्न पहचान और समझ होगी। इसका अर्थ है कि हमें भय और सुख दोनों के ही स्वरूप और इनकी संरचना के बारे में सीखना होगा। एक से चिपके रहकर आप दूसरे से मुक्त नहीं हो सकते।

इस प्रकार भय क्या है और सुख क्या है? जैसा कि आप अपने भीतर अवलोकन कर सकते हैं, आप भय से छुटकारा पाना चाहते हैं। आपका समस्त जीवन

भय से एक पलायन है। आपके ईश्वर, आपके मन्दिर-गिरजाघर, आपकी नैतिक शिक्षाएँ, ये सभी भय पर आधारित हैं, और इन्हें समझने के लिए आपको यह समझना होगा कि इस भय का जन्म कैसे होता है। आपने अतीत में कुछ किया है और आप नहीं चाहते हैं कि दूसरे को इसका पता चले—यह एक तरह का भय है। आप भविष्य के प्रति भयभीत हैं क्योंकि आपके पास नौकरी नहीं है, अथवा आपको किसी और चीज का भय है। इस प्रकार आप अतीत से भयभीत हैं, और आप भविष्य से भी भयभीत हैं। जब विचार पीछे मुड़कर अतीत की घटनाओं को देखता है या जब यह उन चीजों को देखता है जो भविष्य में घटित हो सकती हैं—तो भय का जन्म होता है। अतः विचार ही जिम्मेदार है भय के लिए। मृत्यु से सम्बन्धित मनोनुकूल विचारों को स्वीकार करके आपने—खास कर इस देश में—मृत्यु के भय की होशियारीपूर्वक उपेक्षा करने की कोशिश की है, किन्तु मृत्यु का भय ज्यों का त्यों मौजूद है। आप मृत्यु के बारे में सोचना नहीं चाहते, क्योंकि जिसी क्षण आप सोचते हैं कि आप भयभीत हो जाते हैं। और चूँकि आप भयभीत हैं इसलिए आपने मृत्यु के सम्बन्ध में सिद्धान्तों को इकट्ठा कर रखा है; आप पुर्नजीवन या पुर्नजन्म में विश्वास करते हैं—दर्जनों विश्वास हैं आपके पास—और इन सबका कारण है आपका भय। और ये सब विचार से ही पैदा होते हैं। बीते हुए कल तथा आने वाले कल के भय का सृजन और पोषण विचार द्वारा होता है, और विचार ही सुख का पोषण भी करता है। आपने सूर्यास्त का एक सुन्दर दृश्य देखा और उस क्षण आपको परम आनन्द का बोध हुआ। जल की सतह पर झिलमिलाते हुए प्रकाश का सौंदर्य, आसपास खड़े पेड़ों का स्पन्दन—यह सब आपको परम हर्ष और अह्लाद से भर देता है। लेकिन तभी अचानक विचार चला आता है और कहता है, "काश, मैं इसका आनन्द पुनः ले पाता।" आप इसके बारे में सोचने लगते हैं, और आप वहाँ पुनः जाते हैं, किन्तु वस्तुतः तब आप इसे देखते नहीं हैं। आप कामवासना का सुख लेते हैं और बाद में इसके बारे में सोचते हैं, इस पर बार-बार चिन्तन करते हैं, इसके चित्र और इसकी प्रतिमाएँ आपके मन में बनती हैं—और इन सबों को बल, पोषण और जीवन विचार से ही प्राप्त होता है। तो विचार सुख को पोषण देता है और भय को भी पोषण देता है। अतः विचार ही इस सबके लिये जिम्मेदार है। यह कोई सूत्र नहीं है जिसे आप याद रखें बल्कि यह एक तथ्य और हकीकत है जिसे हम सभी मिलजुल कर समझें; अतः यहाँ सहमति या असहमति का कोई प्रश्न नहीं है।

विचार क्या है ? विचार स्पष्टतः स्मृति की प्रतिक्रिया है। यदि आपके पास स्मृति न हो, तो विचार भी नहीं होगा। जिस रास्ते से आप घर जाते हैं, यदि उसकी स्मृति आपके पास न हो तो आप पुनः घर नहीं लौट सकेंगे। इस प्रकार विचार की दोहरी भूमिका है—अतः विचार न केवल भय एवं सुख का सृजन और पोषण करता

है वल्कि कुशलता से कार्य करने के लिए भी विचार आवश्यक है। तो आप देख रहे हैं कि यह कितना जटिल है: जब आप कोई चीज करते हैं, जब आप तकनीकी कार्य करते हैं, तो वहाँ विचार का प्रयोग पूर्णता से और वस्तुपरक ढंग से होना चाहिए, और यही विचार सुख, भय और इस तरह दुःख को भी जन्म देता है।

अतः अब आप स्वयं से यह प्रश्न कर रहे हैं: विचार का क्या स्थान है ? विचार के दो तरह के कार्यो और भूमिकाओं के वीच सीमा-रेखा कहाँ पर है ? एक तरफ, यानी कुशलता पूर्वक जीने और कार्य करने के क्षेत्र में इसका पूर्ण रूप से प्रयोग होना चाहिए, किन्तु दूसरे क्षेत्र में इसका विलकुल ही हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए—जैसे, जब आप सूर्यास्त के एक अत्यन्त रमणीय दृश्य को देखें, तो इसके आनन्द को उस क्षण पूर्णता से जी लें और भूल जायें ताकि अगले क्षण विचार को उठने का मौका न मिले। विचार की समस्त प्रक्रिया कदापि मुक्त नहीं है, क्योंकि इसकी जड़ें अतीत में फैली हुई हैं। अतः विचार कभी नया नहीं होता। चुनाव में स्वतंत्रता का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि जब आप चुनाव करते हैं तो वहाँ विचार ही कार्य कर रहा होता है। इस प्रकार हम एक अत्यन्त सूक्ष्म समस्या का सामना कर रहे हैं : हम विचार के खतरे को देखते हैं, क्योंकि यह भय को जन्म देता है—भय जो मन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, विकृत कर देता है तथा इसे दुःख और अंधकार में जीने को विवश कर देता है—और फिर भी हम देखते हैं कि विचार का सक्षम ढंग से, वस्तुपरक ढंग से, एवं भावुकता से मुक्त होकर प्रयोग होना ही चाहिए। इस तथ्य का अवलोकन करने के वाद आपके मन की क्या अवस्था है ?

देखिये, महाशय, इसे अच्छी तरह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं कि आप यहाँ बैठे-बैठे केवल ढेर सारे शब्दों को सुनते रहें। और इनका मूल्य ही क्या है यदि इसके अन्त में भी आप भयग्रस्त बने ही रहते हैं। जब आप यहाँ से जायें तो आपके भीतर भय का नामोनिशान नहीं होना चाहिए, इसलिए नहीं कि आत्मसम्मोहन द्वारा आपने अपने को समझा लिया है कि भय है ही नहीं, बल्कि इसलिए कि आपने भय के सम्पूर्ण ढाँचे को वस्तुतः आन्तरिक और मनोवैज्ञानिक रूप से समझ लिया है।

इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम 'देखना' सीखें। और भयका जन्म कैसे होता है, इसका हम यहाँ अत्यन्त ध्यानपूर्वक अवलोकन कर रहे हैं। जब आप मृत्यु के वारे में या अपनी नौकरी छूट जाने के बारे में सोचते हैं, अथवा जब आप अतीत या भविष्य की हजार चीजों के वारे में सोचते हैं, तो भय अवश्यभावी है। जब मन इस तथ्य को देखता है कि विचार को कार्य करना ही चाहिए, और साथ ही साथ

मन विचार के खतरे को भी देखता है, तो मन की वह कौन सी गुणवत्ता है जो इस तथ्य को देख रही है ? इस बात का पता आप स्वयं लगायें, इसकी प्रतीक्षा न करें कि मैं ही आपको बताऊँ।

कृपया ध्यानपूर्वक सुनें; यह वस्तुतः अत्यन्त सरल है। हमने पहले ही कहा कि विश्लेषण से कोई लाभ नहीं है, और हमने इसे स्पष्ट किया कि क्यों। यदि आपने इस बात की सत्यता को देखा है तो इसका अर्थ है कि आप इसे समझ चुके हैं। पहले आप अपने संस्कारों के कारण विश्लेषण के पक्ष में थे। अब, जबकि आपने विश्लेषण की व्यर्थता और असत्यता देख ली है तो यह समाप्त हो चुका हैं। तो मन की वह कौन सी अवस्था है जिसने विश्लेषण को दूर हटा दिया है ? इस अवस्था में मन पहले से अधिक स्वतन्त्र और मुक्त है, क्या यह नहीं है ? इस प्रकार मन और अधिक सजीव तथा सक्रिय है एवं इसीलिए अब यह अत्यधिक प्रज्ञावान, तीक्ष्ण और संवेदनशील भी है। भय का जन्म कैसे होता है, यदि आपने इसे देख लिया है और इसके तथ्य को सीख लिया है तथा यदि आपने सुख की प्रक्रिया का भी निरीक्षण कर लिया है, तो अब आप अपने मन की अवस्था का निरीक्षण कीजिए, जो अत्यधिक स्पष्ट, तीव्र एवं प्रखर होता जा रहा है और इसीलिए प्रचन्ड रूप से प्रज्ञावान भी होता जा रहा है। इस प्रज्ञा का कोई भी सम्बन्ध ज्ञान और अनुभव से नहीं है; आप स्कूल-कॉलिज जाकर एवं संवेदनशील होने की कला सीखकर इस प्रज्ञा को उपलब्ध नहीं कर सकते। विश्लेषण का सम्पूर्ण ढाँचा तथा इसमें जो चीजें निहित हैं—जैसे समय तथा यह मूर्खतापूर्ण विचार कि आपका ही एक खण्ड अन्य खण्डों को विश्लेषित और व्यवस्थित करने जा रहा है—जब आप इन सारे तथ्यों का अत्यन्त ध्यानपूर्वक अवलोकन कर लेते हैं तथा जब आप भय के स्वरूप को भी देख लेते हैं और इस बात को समझ लेते हैं कि सुख क्या है—तभी प्रज्ञा का आगमन होता है।

तो भय—जो एक आदत का रूप ले चुका है—जब कल पुनः आप पर अचानक आक्रमण करे, तो आपको यह याद रहे कि इसका तत्काल सामना कैसे करना है, और इसे आप किसी और समय तक के लिए टालें नहीं। और इसका सामना करना ही तत्क्षण इसका अन्त करना है, क्योंकि जैसे ही आप इसका सामना करते हैं, प्रज्ञा कार्य करने लगती है। और इस प्रक्रिया में न केवल जितने ज्ञात भय हैं उनका अन्त हो जाता है बल्कि जो गहरे और गुप्त भय हैं उनका भी अन्त हो जाता है।

एक विचित्र बात पर शायद आपने कभी गौर किया हो कि हम कितनी आसानी से प्रभावित हो जाते हैं ! बचपन से ही हमें हिन्दू, ईसाई, भारतीय, अमरीकन आदि होने के लिए शिक्षित और संस्कारित किया जाता है। जो प्रचार सदियों से दोहराया

जा रहा है हम उसी के परिणाम हैं, और हम स्वयं भी जीवनपर्यन्त इसे दोहराये चले जाते हैं। इस प्रकार हम एक गये-बीते और घिसे-पिटे इन्सान हैं—उधार ज्ञान पर जीने वाले। अतः इस बात के प्रति सचेत रहें कि आप वक्ता से प्रभावित न हों, क्योंकि आपका सम्बन्ध आपके अपने जीवन से है, वक्ता के जीवन से नहीं।

जहाँ तक सुख को समझने का प्रश्न है, आपको यह जानना होगा कि वास्तविक आनन्द क्या है; क्योंकि आनन्द का सुख से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या सुख, इच्छा और वासना का प्रेम से कोई सम्बन्ध है? यह सब समझने के लिए आपको स्वयं का अवलोकन करना होगा। आप इस संसार के परिणाम हैं; आप एक मानव हैं जो अन्य मानवों का एक अङ्ग है, और सभी मानवों की समस्याएँ एक सी हैं; आर्थिक और सामाजिक समस्यायें भले ही भिन्न हों किन्तु मानवीय समस्याएँ एक ही हैं—और सभी लड़ रहे हैं, संघर्ष कर रहे हैं, प्रचंड प्रयास और परिश्रम कर रहे हैं एवं स्वयं से कह रहे हैं कि जो जीवन जिया जा रहा है उसका कोई भी अर्थ नहीं है। अतः जीने के कायदे-कानूनों का, विधि-विधानों का आविष्कार कर लिया जाता है। किन्तु यह सब विलकुल अनावश्यक हो जाता है जब आप अपने मनोवैज्ञानिक ढाँचे को समझ लेते हैं, जब आप भय, सुख एवं प्रेम की संरचना को तथा मृत्यु के अर्थ को समझ लेते हैं। और तभी आप एक समग्र मानव के रूप में जी सकते हैं, जो कभी कोई गलती नहीं करता।

अब यदि आप चाहें तो प्रश्न पूछ सकते हैं, यह बात याद रखते हुए कि प्रश्न और उत्तर दोनों आपके ही भीतर हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—**यदि कोई अज्ञात चीज भय उत्पन्न करती है और आप कहते हैं कि इसे समझने के लिए विचार का प्रयोग एक गलत मार्ग है........?**

कृष्णमूर्ति : आप कहते हैं कि आप अज्ञात से भयभीत हैं—या तो आनेवाले कल के अज्ञात से या वास्तविक अज्ञात से। क्या आप ऐसी चीज से भयभीत हैं जिसे आप जानते ही नहीं? अथवा क्या आप ऐसी चीज से भयभीत हैं जिसे आप जानते हैं और जिससे आपकी आसक्ति है? अतः क्या आप ज्ञात को छोड़ने से भयभीत हैं? महाशय, क्या आप समझे इसे? यदि आप मृत्यु से भयभीत हैं, तो क्या आप अज्ञात से भयभीत हैं? अथवा आप इस बात से भयभीत हैं कि वे सभी चीजें जो आपको ज्ञात हैं, उनका अन्त आ रहा है—आपके सुख, आपका घर-परिवार, आपकी उपलब्धियाँ, आपकी सफलता, आपकी बहुमूल्य वस्तुएँ, इन सभी चीजों का अन्त! आप ऐसी चीज से भला कैसे भयभीत हो सकते हैं जिसे आप जानते ही नहीं? और यदि आप सचमुच किसी ऐसी ही चीज से भयभीत हैं, तो विचार इसे ज्ञात के क्षेत्र में लाना चाहता है

और इसलिए यह कल्पना करने लगता हैं। अतः आपका ईश्वर वस्तुतः आपकी कल्पना या आपके भय की ही उत्पत्ति है। अतः, महाशय, आप अज्ञात के बारे में निराधार कल्पना और अनुमान न करें। आप ज्ञात को समझें और ज्ञात से मुक्त हो जायें।

प्रश्नकर्ता :—मैंने यह उक्ति कहीं पढ़ी हे, "हे परम पिता, मैं विश्वास करता हूँ, तुम मेरे अविश्वास को दूर करो।" विश्वास और संदेह के इस प्रकट द्वन्द्व के साथ हम कैसे कोई चीज सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं ?

कृष्णमूर्तिः आप जो चीज भी पढ़ते हैं उसमें विश्वास क्यों करते है ? सवाल यह नहीं है कि यह गीता में लिखा है या बाइबिल में लिखा है या किसी और धर्म के ग्रन्थों में लिखा है। आप क्यों विश्वास करते हैं—इस पर गौर कीजिए, इसको देखिए। क्या आप कल सुबह होने वाले सूर्योदय में विश्वास करते हैं ? बल्कि आप जानते हैं कि कल भी सूरज निकलेगा। किन्तु आप स्वर्ग में विश्वास करते हैं, किसी परम पिता में विश्वास करते हैं या किसी और चीज में विश्वास करते हैं—क्यों ? क्योंकि आप भयभीत हैं, आप दुःखी और अकेले हैं; चूँकि आपको मृत्यु का भय है, इसलिए आप ऐसी चीज में विश्वास करते हैं जो आपको स्थायी प्रतीत होती हैं। विश्वासों से बोझिल मन भला कैसे साफ-साफ देख सकता है ? अवलोकन करने के लिए यह कैसे स्वतन्त्र हो सकता है ? ऐसा मन भला कैसे प्रेम कर सकता है ? आपके पास आपका अपना विश्वास है, दूसरे के पास उसका अपना विश्वास है। वस्तुतः भय की पूरी समस्या को समझने में ही आपके सारे विश्वास विदा हो जाते हैं। तब मन विकृतिरहित होकर प्रसन्नता पूर्वक कार्य करता है और इसलिए तब परम आनन्द एवं अह्लाद का बोध शेष रह जाता है।

प्रश्नकर्त्ता : मैंने आपकी पुस्तकें पढ़ी हैं और आपको सुनता भी हूँ. सचमुच आप सुन्दर चीजें कहते हैं। मैं आपको भय पर बोलते हुए सुनता हूँ कि हमें भय को कैसे दूर करना चाहिए। किन्तु मन का स्वभाव ही है इच्छाओं और विचारों से भरा होना। तो जब तक मन निरन्तर सक्रिय है तब तक हम मन की मुक्ति का अनुभव कैसे करेंगे ? इसकी पद्धति क्या है ?

कृष्णमूर्ति : महाशय, इच्छा किसे कहते हैं ? आखिर मन इस प्रकार अनवरत प्रलाप क्यों करता रहता है ?

प्रश्नकर्त्ता : असंतोष।

कृष्णमूर्ति : कृपया उत्तर न दें बल्कि पता लगायें। इस पर ध्यान दीजिए : आप एक विधि, एक पद्धति, एक अनुशासन चाहते हैं ताकि आप मनको शान्त कर सकें, मन की अंतर्वस्तु को समझ सकें या इच्छा को दूर कर सकें। किसी पद्धति की

साधना करने का अर्थ हैं प्रतिदिन की एक यांत्रिक चर्या अर्थात् एक यांत्रिक नित्यक्रिया—यानी एक ही चीज को बार-बार करते चला जाना। किसी भो पद्धति में यही बात निहित हैं। तो जब मन इस ढंग से कार्य करने लग जाता है तो क्या घटित होता है? तब ऐसा मन वस्तुतः मन्द, मूढ़ और संवेदनशून्य हो जाता है। आपको यह समझना होगा कि मन क्यों बकबक करता रहता है, मन एक चीज से दूसरी चीज पर क्यों जाता है।

मैं नहीं समझता हूँ कि शाम के इस समय हम इस प्रश्न की पूरी जाँच पड़ताल कर पायेंगे—क्या आप थक नहीं गये हैं? ('नहीं' की आवाजें)। आपने दिन भर ऑफिस में काम किया; वहाँ यह आपका नित्यकर्म था। यहाँ आप कह रहे हैं कि आप थके हुए नहीं है, जिसका अर्थ है कि आप काम नहीं करते रहे है। (हँसी)। संभवतः यहाँ भी आपने चर्चा में गंभीरतापूर्वक भाग नहों लिया है। इसका अर्थ है कि आपका केवल मनोरंजन होता रहा है, और इसलिए यहाँ से आप अपने सारे भय को अपने साथ लिये जायेंगे। महाशय, भगवान के लिए जरा सोचिए कि इसका मतलब ही क्या है तब!

सैन्टा मॉनिका, कैलिफोर्निआ
मार्च ४, १९७०

३

आंतरिक क्रान्ति

"समाज के भीतर परिवर्तन का गौण महत्व है; इसका आगमन अनिवार्यतः सहज रूप से होगा, जब एक मानव के रूप में आप स्वयं अपने भीतर यह परिवर्तन ले आयेंगे।"

पिछली चर्चा में हमने अपने जीवन की असाधारण जटिलता पर विचार किया—अर्थात् वह दुःख; द्वंद्व, संघर्ष और अस्तव्यस्तता जिसमें हम जी रहे हैं। जब तक व्यक्ति वस्तुतः यह नहीं समझ लेता कि इस जटिलता का स्वरूप और इसकी संरचना क्या है, अर्थात् वह इस फंदे में किस तरह उलझ गया है, तब तक स्वतन्त्रता और मुक्ति संभव नहीं है—न ही छानबीन करने की स्वतन्त्रता और न ही वह मुक्ति जिसका आगमन उस आनन्द के साथ होता है जिसमें अहं पूर्णतः विसर्जित हो जाता है। ऐसी मुक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक भय का अस्तित्व किसी भी रूप में है—सतही रूप में मौजूद भय या अपने मन के गुप्त स्थानों और इसकी गहराइयों में छिपे हुए भय। भय, सुख एवं इच्छा में जो परस्पर संबंध है उसका भी हमने पिछली चर्चा में उल्लेख किया है। भय को समझने के लिए व्यक्ति को सुख के स्वरूप को भी समझना ही चाहिये।

आज सुबह हम उस केन्द्र के बारे में चर्चा करेंगे जिससे हमारा जीवन और हमारे क्रियाकलाप उत्पन्न होते हैं और यह भी कि इस केन्द्र में परिवर्तन लाना संभव है या नहीं। क्योंकि परिवर्तन, एक रूपान्तरण, एक आन्तरिक क्रांन्ति स्पष्टतः आवश्यक प्रतीत हो रही है। इस रूपान्तरण को साकार करने के लिए आपको अत्यन्त गहराई से इसकी जाँच पड़ताल करनी चाहिए कि आपका जीवन क्या है—जीवन से पलायन करना नहीं, सैद्धान्तिक विश्वासों और उक्तियों में रस लेना नहीं—बल्कि अत्यन्त ध्यानपूर्वक अवलोकन करना कि आपका जीवन वस्तुतः क्या है, और इसे पूर्ण रूप से रूपान्तरित करना सम्भव है या नहीं। इसके रूपान्तरण से ही आप समाज के स्वरूप और इसकी संस्कृति को भी प्रभावित कर सकते हैं। समाज में अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिए—क्योंकि यहाँ ढेर सारी बुराइयाँ हैं, सामाजिक अन्याय है, पूजा-पाठ और धर्म-कर्म की भयंकर नकल है। किन्तु समाज के भीतर परिवर्तन का गौण महत्त्व है; इसका आगमन अनिवार्यतः सहज रूप से होगा, जब एक मानव के रूप में आप स्वयं अपने भीतर यह परिवर्तन ले आयेंगे।

आज सुबह हम तीन आवश्यक चीजों पर विचार करने जा रहे हैं : जीना क्या है अर्थात् वह जीवन जो हम प्रतिदिन बिताते हैं; करुणा और प्रेम क्या है ? एवं तीसरी चीज, मृत्यु क्या है ? ये तीनों एक दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हैं—एक को समझने से ही हम अन्य दोनों को भी समझ जायेंगे। जैसा हम पहले देख चुके हैं, आप जीवन को खंडों में नहीं ले सकते अर्थात् आप जीवन के किसी एक ऐसे अंग का चुनाव नहीं कर सकते, जो आपको सार्थक प्रतीत होता है या जो आपको आकर्षित करता है या जिस ओर आपकी सहज प्रवृत्ति है। या तो आप सम्पूर्ण जीवन को लें—जिसमें मृत्यु, प्रेम और जीना निहित है—या आप जीवन के एक खंड मात्र को लें, जो संतोषजनक प्रतीत हो सकता है किन्तु जो अनिवार्यतः और अधिक अशान्ति एवं अस्तव्यस्तता को ही जन्म देगा। अतः हमें जीवन को समग्र रूप में लेना चाहिए; और जैसा कि हम इस पर विचार करने जा रहे हैं कि जीना क्या है, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम एक संपूर्ण, विवेकपूर्ण एवं पवित्र मामले पर चर्चा कर रहे हैं।

परस्पर संबंधों पर आधारित इस प्रतिदिन के जीवन में हम अवलोकन करते हैं कि यहाँ द्वंद्व, पीड़ा और यंत्रणा है; दूसरे पर सतत निर्भरता है, जिसमें आत्म-दयनीयता और तुलना का भाव है—और इसे ही हम जीना कहते हैं। मैं एक बात पुनः दोहरा दूँ कि इस चर्चा में हमारा सरोकार सिद्धांतों से नहीं है, हम किसी विचारधारा का भी प्रचार नहीं कर रहे हैं—क्योंकि विचारधाओं का स्पष्टतः कोई भी मूल्य नहीं है; उलटे वे और भी अधिक अशांति एवं द्वंद्व पैदा करते हैं। हम यहाँ वस्तुतः मत, मूल्यांकन या निंदा में रस नहीं ले रहे हैं। हमारा एकमात्र सरोकार इस बात के अवलोकन से है कि हमारे जीवन में वस्तुतः जो घटित हो रहा है उसका रूपांतरण हो सकता है या नहीं।

आप बिलकुल साफ-साफ देख सकते हैं कि आपका दैनिक जीवन कितनी अशांति और कितने अंतर्विरोध से भरा है। जो जीवन अभी आप जी रहे हैं वह नितांन्त निरर्थक है, भले ही आप इसको अपने मन से कोई अर्थ दे दें। बुद्धिजीवी लोग आखिर यही तो करते हैं; वे एक अर्थ का आविष्कार कर लेते हैं और लोग इस कल्पित अर्थ के पीछे चल पड़ते हैं। यह कल्पित अर्थ भले ही एक बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन-दर्शन बन जाये, किंतु यह बिलकुल खोखला और निराधार है। इसके बजाय यदि आप अपना सरोकार सिर्फ उसी से रखें 'जो है'—बिना इसमें कोई अर्थ जोड़े हुए, बिना इससे पलायन करते हुए या बिना सिद्धांतों और विचारधाराओं का सहारा लेते हुए—अर्थात् यदि आप प्रचंड रूप से सजग हो जायें, तो आपका मन 'जो है' का सामना करने में समर्थ हो जाता है। सिद्धांत और विश्वास किसी का जीवन नहीं बदलते—हजारों वर्षों से ये मनुष्य की धरोहर हैं, किन्तु ये मनुष्य को नहीं बदल पाये। शायद इन्होंने मनुष्य को सतही रूप

से परिष्कृत किया है, जिसके फलस्वरूप वह आज शायद कुछ कम असभ्य और जंगली है, किन्तु अब भी वह क्रूर, हिंसक तथा मनमौजी है और गंभीर बने रहने में अक्षम है। जन्म से लेकर मृत्यु तक हम परम दुःख का जीवन जीते हैं। यह एक तथ्य है। और इस तथ्य पर चाहे जितना सैद्धान्तिक चिन्तन किया जाये, चाहे जितनी इसकी मीमांसा की जाय, किन्तु ये चीजें इस तथ्य पर प्रभाव नहीं डालतीं। जिस क्षमता, तीव्रता, ऊर्जा, उत्कटता और आवेग के साथ आप इस तथ्य को देखते हैं वहीं उस पर प्रभाव डालती है 'जो है'। और यह आवेग, उत्कटता एवं तीव्रता आपके पास तब तक नहीं हो सकती जब तक आपका मन किसी काल्पनिक तथा खयाली विचारधारा के पीछे या किसी भ्रांति के पीछे भाग रहा है।

हम जिस चीज की छानबीन में लगे हैं उसके लिए आपकी पूरी ऊर्जा चाहिए, आपका पूरा ध्यान चाहिए—न केवल तब तक जब तक आप यहाँ हैं बल्कि जीवन भर, यदि आप सचमुच इसके प्रति गंभीर हैं। हमारा सरोकार जिस कार्य से है वह है 'जो है' उसको बदलना—'जो है' अर्थात् दुःख, द्वंद्व, हिंसा, दूसरे पर निर्भरता। निर्भरता से मेरा तात्पर्य दुकानदार, डाकिया या डॉक्टर पर निर्भरता से नहीं है बल्कि हमारे परस्पर संबंधों में दूसरे पर जो हमारी मनोवैज्ञानिक और मनःशारीरिक निर्भरता है उससे है। दूसरे पर निर्भरता अनिवार्यतः भय उत्पन्न करती है, क्योंकि जब तक मैं अपना भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पोषण पाने के लिए आप पर निर्भर हूँ तब तक मैं आपका गुलाम हूँ और इसलिए वहाँ भय का अस्तित्व है। यह एक तथ्य है। अधिकांश मनुष्य दूसरे पर निर्भर हैं और इस निर्भरता में आत्म-दयनीयता का भाव मौजूद है जो तुलना से उत्पन्न होता है। तो जहाँ भी दूसरे पर मनोवैज्ञानिक निर्भरता है—अपने पति पर, अपनी पत्नी पर—वहाँ न केवल भय और सुख होगा बल्कि इसकी पीड़ा भी। आशा है कि आप इसका अवलोकन अपने भीतर कर रहे हैं—न कि मात्र वक्ता को सुन रहे हैं।

आपको को पता है, सुनने के दो ढंग हैं; लापरवाही और बेफिक्री से सुनना, या प्रकट किये जा रहे विचारों को उनसे सहमत या असहमत होते हुए सुनना; दूसरा ढंग जो सुनने का है वह है, न केवल शब्दों और उनके अर्थ को सुनना बल्कि स्वयं आपके भीतर जो घटित हो रहा है उसको भी सुनना। यदि आप इस ढंग से सुनें, तो वक्ता जो कह रहा है, उसका सम्बन्ध उससे हो जाता है जो आप अपने भीतर सुन रहे हैं। तब आप केवल वक्ता को नहीं सुन रहे हैं—जो अनावश्यक है—बल्कि अपने अस्तित्व की समस्त अंतर्वस्तु को भी सुन रहे हैं। यदि आप इस ढंग से वक्ता के साथ एक ही तल पर, एक ही समय में तीव्रता और गहनता से सुन रहे हैं, तो जो घटित हो रहा है उसमें हम दोनों समान रूप से हिस्सा ले रहे हैं, सहभागी हो रहे हैं। तब आपके पास वह

आवेग और उत्कटता हैं जो उस चीज का रूपांतरण करने जा रही है 'जो है'। किन्तु यदि आप इस ढंग से, अपने सम्पूर्ण मन और हृदय के साथ, नहीं सुनते हैं तो इस तरह की सभा बिलकुल निरर्थक हो जाती है।

'जो है' अर्थात् जो भयानक जीवन वस्तुतः आप बिता रहे हैं उसे समझने के क्रम में आप देखते हैं कि आप एक अलग-थलग जीवन बिता रहे हैं—भले ही आपके पास पत्नी और बच्चे हों, तो भी आपके भीतर स्वयं को अलग करने वाली प्रक्रिया चलती रहती है। पत्नी, प्रेमिका, प्रेमी—प्रत्येक व्यक्ति वस्तुतः अलगाव में ही जी रहा है। एक घर में एक साथ रहते हुए भी हर कोई वस्तुतः अलग और पृथक् है—अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं के साथ, अपने-अपने भय और दुःख के साथ। इस तरह के जीने को ही सम्बन्ध मान लिया गया है। पुनः, यह एक तथ्य है—आपने अपने मन में उसके बारे में एक प्रतिमा बना रखी है और उसने भी अपने मन में आपके बारे में एक प्रतिमा बना रखी है तथा आप दोनों ने ही अपने-अपने बारे में भी अपनी एक प्रतिमा बना रखी है। तो सम्बन्ध इन प्रतिमाओं के बीच है न कि आप दोनों के बीच—इसलिए यह वास्तविक सम्बन्ध है ही नहीं। अतः सर्वप्रथम आपको यह पता लगाना चाहिए कि ये प्रतिभाए कैसे निर्मित हो जाती हैं, इनका जन्म कैसे होता है, इनका अस्तित्व होना ही क्यों चाहिए, तथा इन प्रतिमाओं से मुक्त होकर जीने का क्या अर्थ है। पता नहीं, आपने कभी इस पर विचार किया है या नहीं कि एक ऐसा जीवन जिसमें कोई प्रतिमा या कोई नियम न हो—सम्भव है या नहीं! और प्रतिमाओं से रहित जीवन का क्या अर्थ होगा? हम इसकी छानबीन करें।

हर समय हमें बहुत सारे अनुभव होते रहते हैं। इनके प्रति हम बेखबर हो सकते हैं या सचेतन हो सकते हैं। हर अनुभव अपने पीछे एक छाप और चिह्न छोड़ जाता है; ये चिह्न दिन-ब-दिन बढ़ते-बढ़ते प्रतिमा बन जाते हैं। कोई व्यक्ति आपका अपमान करता है और आप तत्काल उसके बारे में अपने मन में एक प्रतिमा बना लेते हैं। अथवा कोई व्यक्ति आपकी खुशामद करता है और पुनः उसी तरह एक प्रतिमा आपके मन में निर्मित हो जाती है। अतः आपकी हर प्रतिक्रिया अनिवार्यतः एक प्रतिमा निर्मित करती है। तो ऐसी प्रतिमा जो निर्मित हो गयी है—क्या उसका अंत करना सम्भव है?

किसी प्रतिमा का अन्त करने के लिए हमें पहले यह पता लगाना चाहिए कि इसका जन्म कैसे होता है। हम देखते हैं कि जब हम किसी चुनौती का समुचित उत्तर नहीं देते हैं तो यह अपने पीछे एक प्रतिमा निर्मित कर जाती है। यदि आप मुझे बेवकूफ कहते हैं तो आप तुरन्त मेरी दुश्मनी या नापसंदगी के पात्र बन जाते हैं। तो जब आपको कोई बेवकूफ कहता है या गाली देता है, उस क्षण आपको तीव्र और गहन रूप से सजग

हो जाना चाहिए तथा ध्यानपूर्वक यह सुनना चाहिए कि वह क्या कह रहा है—बिना किसी चुनाव या निंदा का भाव मन में लाये हुए। यदि उस व्यक्ति के कथन पर आपमें कोई भी भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती है, तो आप देखेंगे कि वहाँ कोई भी प्रतिमा निर्मित नहीं हो रही है।

अतः आपको अपनी प्रतिक्रिया की ओर सजग रहना है ताकि इसको अपनी जड़ जमाने का समय न मिले; क्योंकि जिसो क्षण कोई प्रतिक्रिया अपनी जड़ जमा लेती है कि तव तक एक प्रतिमा भी निर्मित हो जाती है। तो क्या आप इसे कर सकते हैं ? इसे करने के लिए आपके पास ध्यान होना चाहिए—जीवन में स्वप्निल ढंग से भटकते हुये नहीं—वल्कि ठीक चुनौती के क्षण में ध्यान जिसका अर्थ है अपने पूरे अस्तित्व और प्राणों के साथ अर्थात् अपने हृदय और अपने मन के साथ सुनना ताकि आप उसका साफ-साफ अवलोकन कर सकें जो कहा जा रहा है—चाहे यह अपमानजनक वात हो या कोई खुशामदी वात अथवा यह आपके वारे में व्यक्त कोई मत और विचार हो। तो उस समग्र ध्यान और होश की दशा में आप देखेंगे कि वहाँ प्रतिमा निर्मित होने के लिए अंतराल नहीं बचता। जो अतीत में घटित हो चुका है, प्रतिमा उसी से संवंधित होती है है। यदि यह एक सुखद प्रतिमा है तो आप इससे चिपके रहते हैं। यदि यह पीड़ादायी तो आप इससे छुटकारा पाना चाहते हैं। और इसी प्रकार इच्छाओं का जन्म होता है—एक चीज जिसे हम पकड़ना चाहते हैं, दूसरी चीज जिसे हम छोड़ना चाहते हैं; और जहाँ इच्छाएँ हैं वहाँ द्वंद्व भी है। यदि आप इस सव के प्रति सजग हैं, विना किसी चुनाव के इसकी ओर ध्यान देते हुए, मात्र इसका अवलोकन करते हुए—तव आप स्वयं अपने लिए कुछ खोजवीन कर सकते है, तव आप वस्तुतः किसी डॉक्टर, किसी मनोवैज्ञानिक या किसी गुरु के अनुसार नहीं जीते। सत्य की खोज करने के लिए आपको इन सवसे पूर्णतः मुक्त हो जाना है। और अकेले खड़े हो जाना है। और अकेले खड़े होने का अर्थ है समाज की ओर अपनो पीठ कर लेना अर्थात् समाज से मुँह फेर लेना।

यदि आपने सावधानीपूर्वक स्वयं का अवलोकन किया है तो आपने देखा होगा कि आपके मस्तिष्क का एक हिस्सा, जिसका विकास कई हजार वर्ष के दौरान हुआ है, अतीत है—अतीत अर्थात् अनुभव और स्मृति। इस अतीत में सुरक्षा और बचाव है। आशा है कि इस सब का निरीक्षण आप अपने भीतर कर रहे हैं। अतीत का उत्तर सदा तत्काल एवं यंत्रवत् होता है। तो क्या आप किसी चुनौती का सामना इस ढंग से कर सकते हैं कि अतीत तत्काल उत्तर न दे पाये, ताकि चुनौती और इसको दिये जाने वाले उत्तर में एक अंतराल निर्मित हो जाये ? यदि हाँ, तो ऐसा करना ही प्रतिमा का अंत कर देना है। यदि यह सम्भव नहीं हो पाता है तो हम सदा अतीत में ही जीते रहेंगे।

हम स्वयं अतीत हैं और अतीत में मुक्ति संभव नहीं है। तो यही हमारा जीवन है, एक सतत् संघर्ष और युद्ध, जहाँ अतीत वर्तमान द्वारा परिवर्तित होकर भविष्य में कदम रख रहा है—जो वस्तुतः किंचित परिवर्तित रूप में अतीत की ही गति है। जव तक इस गति का अस्तित्व है, तव तक मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकता, तव तक वह सदा दुःख, द्वंद्व, अशांति और आफत में रहेगा। तो क्या अतीत के उत्तर को स्थागित किया जा सकता है ताकि प्रतिमा तत्काल निर्मित न होने पाये ?

जीवन जैसा भी है इसे हमें देखना है---इसमें व्याप्त अनंत दुःख एवं अशांति, तथा इससे पलायन करने के लिए धार्मिक अंधविश्वासों की शरण में चले जाना या राज्य के प्रति समर्पित हो जाना अथवा विभिन्न प्रकार के मनवहलाव का सहारा लेना। इन सभी को हमें देखना है। हमें यह भी देखना है कि व्यक्ति पलायन करके विक्षिप्त स्थिति में कैसे पहुँच जाता है—क्योंकि विक्षिप्तता सुरक्षा का एक असाधारण वोध देती है। जो आदमी विश्वासों में जीता है वह विक्षिप्त है। जो आदमी एक प्रतिमा या प्रतीक की पूजा करता है वह विक्षिप्त है। ये विक्षिप्तता की दशाएँ हैं जिसमें आदमी को परम् सुरक्षा और वचाव का अनुभव होता है। किन्तु यह आपके भीतर एक आत्यंतिक क्रांति को नहीं जन्म देता। ऐसी क्रांति के लिए यह आवश्यक है कि आप चुनाव रहित ढंग से अवलोकन करें, जिसमें इच्छा, सुख या भय द्वारा उत्पन्न विकृति न हो—आप वस्तुतः जो कुछ हैं उसका विना किसी पलायन के सही-सही अवलोकन करें। और इस अवलोकन के क्रम में आप जो कुछ देखते हैं उसे कोई नाम न दें वल्कि सिर्फ अवलोकन करते चले जायें। तभी आपके पास अवलोकन करने की ऊर्जा एवं उत्कटता होगी। और इस अवलोकन में एक प्रचंड परिवर्तन का आगमन होता है।

प्रेम क्या है ? हम इस सम्व्रन्ध में वहुत चर्चा करते हैं---ईश्वर के प्रति प्रेम, मानवता के प्रति प्रेम, देश के प्रति प्रेम, परिवार के प्रति प्रेम—और फिर भी जहाँ देखिये वहाँ प्रेम के साथ घृणा छाया कि तरह चल रही है। आपको अपने ईश्वर से प्रेम है और दूसरे के ईश्वर से घृणा। आप अपने देश और अपने परिवार से प्रेम करते हैं, परन्तु आप दूसरे परिवार और दूसरे देश के विरोध में हैं। और पूरे संसार में प्रेम का सम्वन्ध अधिकाधिक काम वासना से ही जोड़ा जाता है। हम यहाँ निंदा नहीं कर रहे हैं अथवा अपना मूल्यांकन या निष्कर्ष नहीं दे रहे हैं—जो संसार में वस्तुतः घटित हो रहा है उसका हम मात्र अवलोकन कर रहे हैं। और यदि आप अवलोकन करना जानते हैं तो यह आपको प्रचंड ऊर्जा से भर देता है।

प्रेम क्या है और करुणा क्या है ? सच पूछिये तो करुणा का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति के प्रति आवेग और आवेश से भरा होना, प्रत्येक चीज की फिक्र और उसका ख्याल रखना—उन जानवरों का भी जिनको आप मार कर खा जाते हैं। सर्वप्रथम हमें उसे

देखना चाहिए जो वस्तुतः है—न कि जो होना चाहिए—अर्थात् हमारे दैनिक जीवन में जो हो रहा है उसे देखना। क्या हम जानते हैं कि प्रेम करने का क्या अर्थ है, अथवा हम सिर्फ सुख और इच्छा को ही जानते हैं, जिसे हम प्रेम कहते हैं ? निश्चय ही सुख और इच्छा के साथ एक तरह की नजाकत, नरमी, स्नेह, दूसरे का ख्याल, इत्यादि भी जुड़े हुए हैं। किन्तु प्रश्न यह है, क्या प्रेम सुख और इच्छा है ? प्रत्यक्षतः हममें से अधिकांश लोगों के लिए तो ऐसा ही है। आप अपनी पत्नी पर निर्भर हैं, आप उसे प्रेम करते हैं, किन्तु जब वह किसी और को देखती है तो आप क्रुद्ध और कुंठित हो जाते हैं, आपकी दशा दयनीय हो जाती है—और बात तलाक तक पहुँच सकती है। इसी को आप प्रेम कहते हैं ! और यदि आपकी पत्नी मर जाये तो आप दूसरी ले आयेंगें—इस हद तक आप दूसरे पर निर्भर हैं ! आप कभी नहीं पूछते कि आप दूसरे पर निर्भर क्यों हैं। (मैं मनोवैज्ञानिक निर्भरता की बात कर रहा हूँ)। यदि आप इसकी जाँच करें, तो आप देखेंगे कि आप अपने भीतर गहरे में कितने अकेले, कितने कुंठित और दुःखी हैं। आप नहीं जानते हैं कि इस अकेलेपन और अलगाव के साथ क्या किया जाये, जो वस्तुतः आत्महनन का ही एक रूप है। यह नहीं जानने के कारण आप दूसरे पर निर्भर हो जाते हैं। इस निर्भरता से आपको परम् सुख-सुविधा मिलती है; मैत्री और साहचर्य मिलता है, किन्तु जब इस मैत्री और साहचर्य में थोड़ा सा भी बदलाव आ जाता है तो आप ईर्ष्या और क्रोध से जलने लगते हैं।

यदि आप अपने बच्चों को सचमूच प्रेम करते हैं तो क्या आप उन्हें युद्ध में भेजेंगे ? क्या आप उन्हें वही शिक्षा देंगे जो आप अभी दे रहे हैं—तकनीकी शिक्षा, जिसका अर्थ है परीक्षाएँ पास करके एक नौकरी पाने की योग्यता हासिल करना और इस सम्पूर्ण अद्भुत जीवन के शेष हिस्से की उपेक्षा कर देना। पाँच वर्ष की उम्र तक आप उनकी खूब सावधानीपूर्वक देखभाल करते हैं और बाद में उन्हें भेड़ियों के पास फेंक देते हैं। इसी को आप प्रेम कहते हैं। जहाँ हिंसा, घृणा और विरोध हैं, वहाँ क्या प्रेम हो सकता है ?

तो आप क्या करेंगे ? हिंसा और घृणा की चारदीवारी में ही कैद है आपकी नैतिकता और आपके सद्गुण। जब तक आप हिंसा और घृणा को पूरी तरह नकारते नहीं तब तक आप सही अर्थों में सद्गुणी नहीं हो सकते। इसका अर्थ है प्रेम में निहित इसके समस्त अर्थों को देखना—तब वस्तुतः आप अकेले खड़े हो जाते हैं और आपमें प्रेम करने की सामर्थ्य आ जाती है। आप इसे सुन रहे हैं, क्योंकि यही सत्य है। किन्तु जब आप इसे नहीं जीते हैं तो यह सत्य एक जहर बन जाता है। जब आप किसी सच को सुनते हैं और इसकी उपेक्षा कर देते हैं, तो यह जीवन में एक और विसंगति पैदा करता है एवं इसलिए बहुत अधिक दुःख भी। अतः या तो आप अपने

हृदय और संपूर्ण मन से सुनिये या आप बिलकुल सुनिये ही नहीं। परन्तु चूँकि आप यहाँ हैं, अतः मैं आशा करता हूँ कि आप समग्रता से सुन रहे हैं।

प्रेम किसी चीज का विपरीत नहीं है। प्रेम घृणा या हिंसा का विपरीत नहीं है। यदि आप किसी पर निर्भर न भी हों और एक अत्यन्त नेक तथा सदाचारपूर्ण जीवन बिता रहे हों—गली-गली में जाकर समाज और मानव की सेवा का कार्य कर रहे हों—किन्तु यदि आपके भीतर प्रेम नहीं है तो इस सबका कोई मूल्य नहीं है। यदि आप प्रेम करते हैं तो आप जो चाहें कर सकते हैं—क्योंकि जो प्रेम करता है उससे कभी कोई गल्ती और भूल-चूक नहीं होती और यदि होती भी है तो वह तत्काल उसका सुधार कर लेता है। जो प्रेम करता है उसके पास ईर्ष्या नहीं होती, पश्चाताप नहीं होता; उसके लिए क्षमाशीलता भी नहीं होती, क्योंकि ऐसी कोई चीज कभी उत्पन्न होती ही नहीं जिसे उसे क्षमा करने की आवश्यकता पड़े। इस सबके लिए गहरी जाँच-पड़ताल, गहरी सावधानी और ध्यान चाहिए। परन्तु आप आधुनिक समाज के फन्दे में पड़े हुए हैं। इस फन्दे का निर्माण स्वयं आपने ही किया है और यदि कोई व्यक्ति आपको यह बताता है, तो आप इसकी उपेक्षा कर देते हैं। और इस प्रकार युद्ध तथा द्वेष चलते रहते हैं।

पता नहीं, मृत्यु के बारे में आपका सोचना-विचारना कैसा है! सैद्धान्तिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से मृत्यु का क्या अर्थ है आपके लिए? मृत्यु को ऐसी चीज के रूप में लेते हुए नहीं जो दुर्घटना, बीमारी या बुढ़ापा के कारण एक दिन अवश्यम्भावी रूप से घटित होगी। वह तो हर आदमी के साथ होता ही है; एवं बुढ़ापा और बुढ़ापा के साथ चलने वाला मिथ्या आडम्बर और प्रदर्शन—युवा बनने और दिखने की कोशिश, इत्यादि। मृत्यु के बारे में जितने भी आशा देनेवाले सिद्धान्त हैं वे वस्तुतः आपकी निराशा को ही प्रकट करते हैं, एवं निराश होने के कारण आप कहीं न कहीं से आशा पाने की कोशिश करते हैं। क्या आपने कभी अपनी निराशा को देखा है कि यह क्यों है? यह इसलिए है, क्योंकि आप अपनी तुलना दूसरे से करते रहते हैं, क्योंकि आप कुछ पाना चाहते हैं, कुछ बनना और होना चाहते हैं।

तो हमारे भीतर 'होने' का जो भाव है उससे हमारा प्रभावित और संस्कारित हो जाना जीवन की विलक्षण चीजों में से एक है। इस 'होने' में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों समाहित हैं। समस्त धार्मिक संस्कार इसी 'होना' पर आधारित हैं और इसी पर आधारित है समस्त स्वर्ग और नरक, समस्त विश्वास, समस्त अवतार और मुक्तिदाता एवं समस्त अतिरेक तथा ज्यादतियाँ। क्या इस 'होने' के बिना मनुष्य जी सकता है—जिसका अर्थ है बिना अतीत और भविष्य के जीना? इसका अर्थ वर्तमान में जीना' नहीं है—आपको पता ही कहाँ है कि वर्तमान में जीने का क्या अर्थ

है ? वर्तमान में पूर्णता से जीने के लिए आपको अतीत के ढाँचे और स्वरूप को जानना चाहिए—जो आप स्वयं हैं। आपको स्वयं को इतनी पूर्णता से जानना चाहिए कि आपके भीतर कोई भी अज्ञात और गुप्त कोना शेष न रह जाये। आप स्वयं अतीत हैं और आपका यह 'स्वयं' यानी अहं, 'होना' क्रिया पर ही फल-फूल रहा है—होना अर्थात् कुछ बनना, कुछ पाना, याद में संजोये रखना। आप यह पता लगायें कि आन्तरिक और मनोवैज्ञानिक रूप से इस क्रिया से मुक्त होकर जीने का क्या अर्थ है।

मृत्यु का क्या अर्थ है ? हम इतने भयंकर रूप से मृत्यु से क्यों भयभीत हैं ? पूरे एशिया में लोग पुर्नजन्म में विश्वास करते हैं; इसमें उन्हें आशा दिखायी देती है—पता नहीं क्यों—और, लोग इस पर प्रवचन दे रहे हैं, ग्रन्थ लिख रहे हैं। तो वह कौन सी चीज है जिसका पुर्नजन्म होने जा रहा है ? आप उस चीज को ध्यानपूर्वक देखिये। आपका सम्पूर्ण अतीत, आपका संपूर्ण दुःख, आपकी सम्पूर्ण अशान्ति अर्थात् वह सभी कुछ जो आप अभी हैं—यही है वह चीज जो पुर्नजन्म की आशा लगाये बैठी है। आप सोचते हैं कि 'आप'—जिसके लिए आप 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं—एक ऐसी चीज है जो स्थायी है। क्या जीवन में कोई ऐसी चीज है जो स्थायी है ? आप कोई स्थायी चीज पाना चाहते हैं और इसीलिये मृत्यु को अपने से बहुत दूर कर देना चाहते हैं, इसे कभी देखना नहीं चाहते—क्योंकि आप भयभीत हैं। आपकी दूसरी समस्या है 'समय'—अर्थात जो है और जो अवश्यंभावी रूप से घटित होगा, इन दोनों के बीच का समय।

या तो आप अपने जीवन को आनेवाले कल में प्रक्षेपित और स्थापित कर लेते हैं, और जैसे हैं अभी वैसे ही बने रहते हैं—इस आशा में कि किसी प्रकार का पुनर्जन्म या पुनरुज्जीवन अवश्य होगा—या आप प्रत्येक दिन मरते हैं; प्रत्येक दिन अपने प्रति तथा अपने दुःख और दुर्दशा के प्रति मरते हैं; इस बोझ को प्रत्येक दिन अलग कर देते हैं ताकि आपका मन ताजा, युवा एवं निर्दोष बना रहे। वस्तुतः एक निर्दोष मन का अर्थ है ऐसा मन जो आहत होने में असमर्थ है। ऐसे मन का यह अर्थ नहीं है कि इसने अपने चारों ओर ढेर सारा प्रतिरोध खड़ा कर लिया है—इसके विपरीत, वस्तुतः ऐसा मन वैसी प्रत्येक चीज के प्रति मर रहा है जिसमें इसने सुख, दुःख और द्वन्द्व को जाना है। तभी मन निर्दोष हो पाता है, और ऐसा मन ही प्रेम कर सकता है। यदि आप अपनी स्मृति से चिपके हुए हैं तो आप प्रेम करने में समर्थ नहीं हैं—प्रेम कोई स्मृति और समय की बात नहीं है।

अतः प्रेम, मृत्यु और जीवन एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं—बल्कि ये एक समग्र पूर्ण हैं। और इसी में निहित है विवेक। जहाँ घृणा, क्रोध और ईर्ष्या हैं, जहाँ भय को जन्म देनेवाली निर्भरता है—वहाँ विवेक संभव नहीं है। जहाँ विवेक है वहाँ जीवन

पवित्र हो जाता है एवं परम आनन्द से भर जाता है, और तब आप जो चाहें कर सकते हैं—तब आप जो कुछ करते हैं वह सत्य है, सदाचारपूर्ण है।

किन्तु हम यह सब नहीं जानते—हम सिर्फ अपना दुःख जानते हैं—और न जानने के कारण हम पलायन करने की कोशिश करते हैं। आप पलायन न करें बल्कि 'जो है' उसका अवलोकन करें। 'जो है' उसको नाम देकर, उसकी निन्दा करके या उस पर निर्णय देकर आप उससे इंच भर भी इधर-उधर न हटें—बल्कि केवल उसका निरीक्षण करते चलें। किसी चीज का निरीक्षण करने के लिए आपके पास उसकी फिक्र और उसके प्रति सावधानी होनी चाहिए—जो करुणा के बिना सम्भव नहीं है। जो जीवन इतनी पूर्णता, भव्यता और श्रेष्ठता के साथ जिया जाता है, ऐसा जीवन तब उस चीज में प्रवेश कर सकता है जिसे ध्यान कहते हैं, और जिसकी चर्चा हम कल करेंगे। ऐसी नींव डाले बिना, हर प्रकार का ध्यान केवल आत्मसम्मोहन है। इस नींव को डालने का अर्थ है कि आपने इस अद्भुत जीवन को समझ लिया है, अतः आपके पास एक ऐसा मन है जो द्वन्द्व से मुक्त है और इसलिए आप एक ऐसा जीवन बिता रहे हैं जिसमें करुणा, सौंदर्य एवं एक परम व्यवस्था है। वह व्यवस्था नहीं जो किसी चीज की नकल है बल्कि वह व्यवस्था जिसका आगमन तब होता है जब आप समझ लेते हैं कि अव्यवस्था क्या है—जो वस्तुतः आपका जीवन है। आपका जीवन अव्यवस्थित है। अव्यवस्था अर्थात् असंगति एवं विपरीत चीजों के बीच का द्वन्द्व। जब आप अपने भीतर मौजूद अव्यवस्था को समझ लेते हैं तो इससे व्यवस्था का जन्म होता है—वह व्यवस्था जो गणित की तरह परिशुद्ध एवं सुनिश्चित है और जिसमें कोई भी विकृति नहीं है। इस सब के लिए ध्यानपूर्ण मन होना चाहिए, वह मन जो मौनपूर्वक देखने में समर्थ है।

प्रश्नकर्त्ता : **आपने अपनी किसी पुस्तक में कहा है कि चमत्कार करना सरलतम चीजों में से एक है। आपने जिन चमत्कारों का उल्लेख किया, क्या उनके बारे में कृपया बतायेंगे ?**

कृष्णमूर्ति : मैं चाहता हूँ कि आप किसी पुस्तक से उद्धरण न दें—भले ही वह वक्ता द्वारा लिखित पुस्तक ही क्यों न हो। (हँसी) मैं यह गम्भीरतापूर्वक कह रहा हूँ। किसी व्यक्ति को उद्धृत न करें। दूसरे लोगों के विचारों पर जीना भयानक चीजों में से एक है। और विचार कभी सत्य नहीं होते। "किसी पुस्तक में यह कहा गया है कि चमत्कार संसार की सरलतम चीज है।" तो क्या यह नहीं है ? क्या यह चमत्कार नहीं है कि आप वहाँ बैठे हैं और मैं यहाँ बैठा हूँ तथा हम एक दूसरे से बात कर रहे हैं ? क्योंकि यदि आप बिना प्रयास के सुनें तो आप जानेंगे कि पूर्णता और समग्रता से जीने

का क्या अर्थ है और यदि आप इस ढंग से जीते हैं, तो एक चमत्कार होता है—सबसे बड़ा चमत्कार।

प्रश्नकर्त्ता : मैं सत्ताईस वर्षों से बाहर था और कोई तीन महीने पहले लौटा हूँ। मैं यहाँ प्रचण्ड भय को पनपते हुए देख रहा हूँ। अपने दोस्तों के और स्वयं अपने अवलोकन से मुझे यह विश्वास हो चला है कि विधि-विरोध (माफीआ) का अधिकार-ग्रहण हो रहा है तथा एक पूर्ण पुलिस राज्य विकसित हो रहा है। क्या आप हमें व्यक्तियों के रूप में सहायता कर सकते हैं, हमें कोई ऐसी कुंजी दे सकते हैं कि हम ऐसी स्थितियों के विरुद्ध लड़ सकें? मैं महसूस करता हूँ कि लड़ना कठिन होगा। मैं यह भी महसूस करता हूँ कि यदि हम लड़ते हैं तो हम जेल भी जा सकते हैं। ऐसी भयानक शक्तियों से संघर्ष करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए क्या कर सकता है?

कृष्णमूर्ति : महाशय, आपके प्रश्न से मैं बचने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ, किन्तु मैं पूछना चाहूँगा : क्या एक व्यक्ति के रूप में आप शांतिपूर्ण हो सकते हैं? क्या आप सचमुच एक व्यक्ति हैं? आपका अपना बैंक-खाता हो सकता है, आपके पास एक अलग मकान, एक अलग परिवार हो सकता है, किन्तु क्या आप एक व्यक्ति हैं? सही अर्थों में व्यक्ति वही है जो स्वयं में विभाजित और खंडित नहीं है। किन्तु हम खंड-खंड टूटे हुए हैं, अतः हम व्यक्ति नहीं हैं। जो समाज है, वही हम भी हैं। हमने ही इस समाज का निर्माण किया है। तो एक खंडित और टूटा हुआ मानव कुछ कर ही क्या सकता है, सिवाय इसके कि वह ऐसी दशा को उपलब्ध हो जाये जिसमें वह पूर्णतः समग्र हो? तब एक बिलकुल ही भिन्न ढंग की क्रियाशीलता जन्म लेगी। किन्तु जब तक हम खंडों में ही कार्य कर रहे हैं, तब तक हम संसार में और अधिक अव्यवस्था ही फैलायेंगे। मुझे पक्का पता है कि यह उत्तर किसी को सन्तुष्ट नहीं करेगा; आप कुंजी चाहते हैं और कुंजी प्राप्त करने की सम्भावना आपके भीतर है। आपको यह कुंजी स्वयं गढ़नी पड़ेगी।

प्रश्नकर्त्ता : किन्तु समय कम है और यह पता लगाने में मैं स्वयं को असमर्थ पा रहा हूँ कि इस सम्बन्ध में सही-सही प्रयोग कैसे किया जाये।

कृष्णमूर्ति : "समय कम है"—तो क्या आप तत्काल परिवर्तित हो सकते हैं? यह क्रमशः या कल-परसों परिवर्तित होना नहीं। क्या आप तत्काल एक 'समग्र' जीवन की दृष्टि उपलब्ध कर सकते हैं, जिसमें प्रेम हो तथा वे सारी चीजें हों जिसकी चर्चा हमने आज सुबह की है? वक्ता कह रहा है कि करने को यही एकमात्र चीज है—पूर्ण रूप से और मौलिक रूप से तत्काल परिवर्तित हो जाना। इसे करने के लिए आपको अपने सम्पूर्ण हृदय और मन से अवलोकन करना होगा—राष्ट्रवाद में, अपने विश्वासों में या

किसी भी चीज में पलायन करना नहीं वल्कि एक साँस में इन सारी चीजों को एक किनारे रख देना और पूर्णतः सजग हो जाना। तव तत्क्षण एक मौलिक परिवर्तन घटित होता है, और इस तत्क्षण घटित रूपांतरण से आप सर्वथा भिन्न ढंग से कार्य करेंगे।

प्रश्नकर्त्ता : **क्या प्रेम का कोई विषय और पात्र होता है ? क्या हम अपने जीवन में केवल एक ही व्यक्ति से प्रेम कर सकते हैं ?**

कृष्णमूर्ति : क्या आपने प्रश्न को सुना है ? क्या आप एक समय में एक की तरह वहुतों से प्रेम कर सकते हैं ? कैसा विलक्षण प्रश्न पूछा गया है ! यदि आप वस्तुतः प्रेम करते हैं, तो आप एक को प्रेम करते हैं और अनेक को भी। किन्तु हम प्रेम करते ही नहीं। महाशय, एक फूल की सुगन्ध अनेक व्यक्ति ले सकते हैं—या केवल एक व्यक्ति भी ले सकता है—किन्तु फूल को इसकी फिक्र नहीं है, वह तो अपनी सुगन्ध लिए खड़ा है। और यही प्रेम का सौन्दर्य है—यह एक के लिए है और अनेक के लिए भी। यह तभी सम्भव है जव आपके पास करुणा है एवं जव आपके पास ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा या सफलता की चाह नहीं है। प्रेम उस सभी का इनकार है जिसे मनुष्य ने अपने भीतर और वाहर निर्मित कर रखा है। इस निषेध (Negation) द्वारा ही, जो परम प्रत्यक्ष और वास्तविक (Positive) है उसका आगमन होता है।

सैन्टा मौनिका, कैलिफोर्निया (अमरीका) मार्च ७, १९७०।

*

४

धर्म

"धर्म तब एक ऐसी चीज है जिसे शब्दों में नहीं रखा जा सकता, जिसे विचार द्वारा नहीं मापा जा सकता ....."

जैसा हमने कहा था, साँझ के इस समय हम धर्म और ध्यान पर चर्चा करेंगे। ये दोनों मिलकर वस्तुतः एक अत्यन्त जटिल विषय की रचना करते हैं, और इसके लिए आवश्यक है कि बहुत अधिक धैर्य हो तथा निष्कर्षरहित जाँच-पड़ताल हो, जिसमें आपको किसी तरह की मान्यता नहीं वनानी है, किसी चीज को स्वीकार नहीं करना है या किसी तरह का विश्वास निर्मित नहीं करना है। मनुष्य ने सदा किसी ऐसी चीज की खोज की है जो इसके दैनिक जीवन और इसके सुख, दुःख एवं पीड़ा से पृथक और परे हो। उसने सदा किसी ऐसी चीज को पाना चाहा है जो अधिक स्थायी हो। और इस अकथनीय चीज की अपनी खोज में उसने मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर बना डाले हैं। धर्म के नाम पर असाधारण कार्य किये गये हैं। ऐसे युद्ध हुए हैं पृथ्वी पर जिसके लिए सम्प्रदाय और धर्म जिम्मेदार हैं—लोग सताये गये हैं, जलाये गये हैं, बरबाद किये गये हैं; क्योंकि विश्वास सत्य से अधिक महत्त्वपूर्ण जो था, मत और सिद्धान्त प्रत्यक्ष अवलोकन से अधिक जीवंत जो था! जब विश्वास सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है तो आप इसके लिए हर चीज का वलिदान करने को तैयार हो जाते हैं। जव तक किसी विश्वास से आपको सुख, सांत्वना, सुरक्षा और स्थायित्व का वोध मिलता है तब तक आप इसकी चिन्ता नहीं करते कि उस विश्वस की कोई प्रामाणिकता हैं या नहीं।

किसी चीज को खोजना और उसे पा लेना आसान है; किंतु इसका अर्थ यह भी है कि इससे पहले कि आप खोजना आरम्भ करें, आपके पास एक आधार होना चाहिए तथा जिस चीज की खोज की जा रही है उसकी एक धारणा होनी चाहिए आपके पास। जब किसी चीज की खोज की जाती है तो उसके साथ कई चीजें जुड़ी होती हैं—वहाँ न केवल यह इच्छा और आशा कार्य करती है कि मैं जिस चीज को खोज रहा हूँ वही सत्य होगा वल्कि उस खोज के पीछे वस्तुतः कोई न कोई प्रयोजन भी होता है। इस प्रकार यदि भय से पलायन करना अथवा सुख, सांत्वना और सुरक्षा को उपलब्ध करना आपका प्रयोजन है, तो अवश्यंभावी रूप से आप कोई ऐसी चीज खोज लेंगे जो आपको तुष्टि देनेवाली होगी—जैसे एक नितांत वेतुका और अर्नगल विश्वास; किन्तु जब तक

इससे आपको पूर्ण संतोष, सांत्वना और सुख मिलता है तब तक यह भ्रांति कितनी ही हास्यास्पद क्यों न हो लेकिन आप इसको अपने गले से लगाये रखेंगे। अतः जो लोग कुछ पाने के लिए खोज रहे हैं वे एक बहुत बड़ा खतरा मोल ले रहे हैं।

यदि किसी तरह का प्रकट या अप्रकट भय आपका पीछा कर रहा है तो आपकी सारी खोज वस्तुतः वास्तविकता से भागने और पलायन करने की चेष्टा बन जाती है। और यदि आप अपने प्रयास में कुछ खोज भी निकालते हैं तो वह उपलब्धि वस्तुतः पहचान पर आधारित होती है—अर्थात् जिसे आप पहचानते हैं, अन्यथा इसका मूल्य ही क्या है! किंतु यदि आप अवलोकन करें तो आप पायेंगे कि पहचान का सम्बन्ध अतीत की स्मृति से है, यानी किसी ऐसी चीज से है जिसे आप पहले से जानते हैं अन्यथा आप पहचान ही कैसे पायेंगे! तो आप जिसे सत्य समझ रहे हैं उसकी इस अनंत खोज में ये सारी बातें निहित हैं; किंतु जो चींज मन के मापदंड और मर्यादा से परे हैं—वह पहचान पर आधारित नहीं है।

अपने स्वीकृत अर्थों में धर्म प्रचार और निहित स्वार्थ की बात बन गया है तथा इसके चारों ओर बहुत अधिक संपत्ति और जायदाद खड़ी हो गयी है। धर्म का अब अर्थ है 'आध्यात्मिकता' की एक बहुत बड़ी श्रेणीबद्ध नौकरशाही वाली पद्धति। धर्म अब मत, सिद्धान्त, विश्वास और कर्मकांड तक ही सिमित होकर रह गया है। धर्म का मतलब है ऐसी चीज जिसका हमारे दैनिक जीवन से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। आपका ईश्वर में विश्वास हो सकता है, किंतु इस विश्वास का मूल्य ही क्या है यदि आप हिंसक, लोभी, ईर्ष्यालु, महत्वाकांक्षी और धोखेबाज हैं तथा दूसरे का अहित करने वाले हैं। आप ईश्वर, अवतार या किसी गुरु में विश्वास करते हैं, तो भी आप इन्हें वस्तुतः बहुत दूर ही रखते हैं, ताकि आपका दैनिक जीवन इनसे कहीं स्पर्शित न हो जाये।

धर्म का जो मौजूदा रूप है वह एक विचित्र वस्तु है, जिसकी कोई प्रामाणिकता और सत्यता नहीं है। एक हिन्दू या ईसाई के रूप में आपको पिछले कई हजार वर्षों से आस्था और विश्वास रखने के लिए संस्कारित किया गया है। कृपया अपने भीतर झाँककर इसे देखें—आपको इसकी निन्दा या आलोचना नहीं करनी हैं, केवल इसका अवलोकन करना है। भले ही आपको अच्छा न लगे, परन्तु आप जो कुछ हैं उस तथ्य का सामना आपको करना ही चाहिए। एक हिन्दू, ईसाई या मुसलमान के रूप में आप उतने ही संस्कारबद्ध हैं जितना कोई साम्यवादी या नास्तिक। आस्तिक और नास्तिक दोनों ही अपने समय के समाज, संस्कृति और अद्‌भुत प्रचारपद्धति द्वारा संस्कारबद्ध हो जाते हैं। एशिया में यह हजारों वर्ष से होता रहा है।

समस्त भौतिक ढाँचा, मनोवैज्ञानिक दावे एवं कट्टर विश्वास, जिनके लिए आदमी मरने और मारने को तैयार है—इस दुराग्रह एवं तार्किक मत पर आधारित है कि सत्य का पता लगाने का यही मार्ग है। किन्तु कोई 'सत्य मत' चाहे कितना ही तर्कपूर्ण एवं बुद्धिमत्तापूर्ण क्यों न हो, है तो यह एक मत और विचार ही—इसलिए इसकी कोई सत्यता नहीं है। सारे विश्व में अब धर्म पूर्णतः निरर्थक हो चुके हैं। हम आध्यात्मिक मनोरंजन चाहते हैं और इसलिए हम मंदिर, मसजिद या गिरजाघर जाते हैं, किन्तु इनका कोई भी सरोकार हमारे दैनिक जीवन के दुःख, अशान्ति एवं घृणा-द्वेष से नहीं है। वह व्यक्ति जो सचमुच गम्भीर है, जो सचमुच पता लगाना चाहता है कि इस अस्तित्व जैसी भयानक चीज से परे कुछ है या नहीं—उस व्यक्ति को मत, सिद्धान्त, विश्वास एवं प्रचार से पूर्णतः मुक्त हो जाना चाहिए, उसे उस ढाँचे से भी मुक्त हो जाना चाहिए जिसमें उसे एक धार्मिक व्यक्ति बनाने के लिए शिक्षित और संस्कारित किया गया है।

तथाकथित धर्मों में 'जो है' उसके निषेध द्वारा विध्यात्मक वस्तु तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। यदि यह सम्भव हो, तो हम पता लगाने जा रहे हैं कि वह कौन सी चीज है जिसे मनुष्य खोजता जा रहा है—और यह पता लगाने के लिए आपको किसी विश्वास या गुरु, किसी अवतार अथवा वक्ता पर निर्भर नहीं होना है। हम साथ-साथ अपने लिए यह पता लगाने जा रहे हैं कि कोई ऐसी चीज है या नहीं जो हमारे भय और हमारी आशाओं का प्रक्षेपण न हो, जो एक धूर्त और चालाक मन का आविष्कार न हो या जो हमारे गहन अकेलेपन से उत्पन्न न हो।

यह पता लगाने के लिए आपको विश्वास से मुक्त होना चाहिए, क्योंकि हर विश्वास के साथ एक ऐसी मानसिकता जुड़ी होती है जो आशा, सुख, सांत्वना, सुरक्षा और एक स्थायित्व का बोध पाने का कोई न कोई आयोजन कर लेती है। खोज-बीन की स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि आप भय और चिंता से तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की चाह से मुक्त हों। ये प्रत्यक्ष आवश्यकतायें हैं उस व्यक्ति के लिए जो गम्भीरतापूर्वक खोजबीन करना चाहता है।

जो उपकरण इस तरह की खोजबीन में समर्थ है वह एक ऐसा मन है जो साफ और स्पष्ट है, जिसके पास विकृतियाँ नहीं हैं तथा जिसके पास किसी नियम, निष्कर्ष या विश्वास का पूर्वाग्रह नहीं है। तो आप देख रहे हैं कि एक द्वंद्वरहित मन को उपलब्ध करना कितना कठिन है; क्योंकि ऐसे मन का अर्थ है कि यह द्वंद्व को समझ चुका है और इससे मुक्त है।

मन—जिसका अर्थ न केवल मन है बल्कि हृदय भी, अर्थात् मनुष्य की सम्पूर्ण मनःशारीरिक प्रकृति—को अत्यंत संवेदनशील होना चाहिए। और संवेदनशीलता में

ही प्रज्ञा निहित है। हम इस सबकी थोड़ी छानबीन यहाँ करेंगें, क्योंकि यही सब चीजें 'ध्यान' के लिए नींव बनती हैं। यदि आप सर्वप्रथम व्यवस्था की नींव नहीं डालते तो ध्यान—जो जीवन की परम् अद्भुत चीजों में से एक है—महज आत्मवंचना और आत्मसम्मोहन की ओर एक पलायन बन जाता है। एक घटिया और निकृष्ट मन भले ही कुछ कला-कौशल सीख ले और तथाकथित ध्यान का अभ्यास भी कर ले, किन्तु फिर भी यह मन एक निकृष्ट और नासमझ ही बना रहेगा।

हममें से अधिकांश व्यक्तियों के पास बहुत ही कम ऊर्जा है; हम द्वंद्व और संघर्ष में इसे खर्च कर देते हैं। हम इसका अपव्यय विभिन्न ढंगों से करते हैं—न केवल काम-वासना में बल्कि हम अपनी बहुत अधिक ऊर्जा का अपव्यय उस विसंगति और विभाजन में करते हैं जो द्वंद्व को जन्म देता है। निश्चित रूप से द्वंद्व द्वारा ऊर्जा का एक बहुत बड़ा अपव्यय है—यह मानो हमारे वोल्टेज को कम कर देता है। न केवल शारीरिक ऊर्जा आवश्यक है बल्कि मनोवैज्ञानिक ऊर्जा भी आवश्यक है—जिसके लिए चाहिए एक ऐसा मन जो अत्यधिक साफ, स्पष्ट, तर्क-क्षम एवं स्वस्थ हो तथा जो विकृत न हो; और ऐसा हृदय भी चाहिए जो भावुकता एवं भावना से मुक्त हो किन्तु प्रेम और करुणा के गुण से परिपूर्ण हो। यह सब आपको अत्यधिक तीव्रता, उत्कटता एवं आवेग से भर देता है। आपके पास ये गुणवत्ता होनी चाहिए अन्यथा आप उस चीज की ओर यात्रा नहीं कर सकते जिसे ध्यान कहा जाता है। आप पद्मासन में बैठ सकते हैं, प्राणायाम कर सकते हैं, विलक्षण चीजें कर सकते हैं, परन्तु ये आपको कभी ध्यान तक नहीं पहुँचायेंगे।

शरीर को असाधारण रूप से संवेदनशील होना चाहिए। और यह कठिनतम चीजों में से एक है, क्योंकि हमने शरीर की प्रज्ञा को अनेक तरीकों से नष्ट कर लिया है—शराब, सिगरेट इत्यादि के सेवन द्वारा, अत्यधिक सुखोपभोग द्वारा। इन उपायों द्वारा हमने अपने शरीर को स्थूल बना लिया है। शरीर को तो असाधारण रूप से सजीव एवं संवेदनशील होना चाहिए, और यदि आप अपने शरीर को देखें तो आप पायेंगे कि आपने इसकी कैसी दुर्गति कर रखी है। शरीर मन पर प्रभाव डालता है एवं मन शरीर पर प्रभाव डालता है, और यही कारण है कि अवयव संस्थान की अर्थात् सम्पूर्ण शरीर की संवेदनशीलता अत्यावश्यक है। संवेदनशीलता, उपवास या किन्हीं अन्य उपायों द्वारा उत्पन्न नहीं होती है। इसके लिय मन को शांत और निष्पक्ष होकर शरीर का निरीक्षण करना होगा। और मैं आशा करता हूँ कि यह सुनने के साथ-साथ आप इसे तत्क्षण कर भी रहे हैं, इसे कल-परसों पर नहीं टाल रहे हैं—क्योंकि जैसा हमने कहा, खोजबीन की इस यात्रा में हम सभी समान रूप से हिस्सा ले रहे हैं।

'जो है' उसका अवलोकन ही उस घटना की समझ है। अर्थात् 'जो है' की समझ उसके अवलोकन से प्राप्त की जाती है; और इसको अपने प्रतिदिन के जीने में उतारने और आजमाने से अनुभव की समझ पैदा होती है। हममें से अधिकांश व्यक्ति वृहत् अनुभव चाहते हैं, क्योंकि हमारा अपना जीवन अत्यंत सीमित और अकथनीय रूप से संवेदनशून्य है। हम गहरा, स्थायी और सुन्दर अनुभव चाहते हैं, किन्तु हमने इतना तक नहीं समझा है कि 'अनुभव' का क्या अर्थ होता है, और न ही हमने यह बात समझी है कि जो मन किसी अनुभव की खोज कर रहा है वह यह समझने में असमर्थ है कि सत्य क्या है। जो जीवन हम प्रत्येक दिन विता रहे हैं उसे रूपांतरित करना आवश्यक है। हमारे भीतर मौजूद जो घृणा, द्वेष, हिंसा, चिन्ता और अपराध-भाव हैं तथा सफल होने की एवं कुछ वनने की जो सहज प्रेरणा है इन सभी का अन्त होना चाहिए। और इस सव को मूलतः परिवर्तित किये विना किसी अनुभूति को खोजने और पाने का प्रयास करना निरर्थक है।

ऐसा मन जो मादक द्रव्यों के सेवन द्वारा सत्य के दर्शन की, अद्भुत अनुभूतियाँ पाने की या अपना मनोरंजन करने की आशा रखता है वह मादक द्रव्यों का गुलाम हो जाता है और ये अंततोगत्वा मन को मंद, मूढ़ और संवेदनशून्य वना देते हैं।

हम मिलजुलकर एक साथ धार्मिक मन के प्रश्न की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं—धर्म क्या है, इसकी जाँच-पड़ताल नहीं—वल्कि वह मन कैसा है जो धार्मिक है, जो सत्य का पता लगाने में समर्थ है। 'धर्म' शब्द के विभिन्न व्यक्तियों ने अनेक अर्थ एवं परिभाषाएँ दी हैं। किन्तु धर्म क्या है, इससे सम्वन्धित सभी मतों का परित्याग करने पर ही हम स्वतंत्रापूर्वक एक धार्मिक मन की गुणवत्ता की जाँच-पड़ताल कर सकेंगे। मन की इस गुणवत्ता को दैनिक जीवन एवं इसके सुख, दुःख, पीड़ा और अशांति से अलग नहीं किया जा सकता।

इसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए समस्त सत्ता से मुक्ति होनी चाहिए। और इस कार्य में आप विलकुल अकेले हैं—कोई व्यक्ति या कोई ग्रंथ आपकी सहायता करने के लिए नहीं है। कृपया आप इस वात पर ध्यान दें, क्योंकि इसने अपनी आस्था और अपना विश्वास दूसरों को सौंप रखा है—पंडे-पुरोहितों को, मुक्तिदाताओं को, गुरुओं को—और अपनी आस्था सौंप कर हम उनके भरोसे वैठे रहे हैं कि वे हमारा मार्गदर्शन करेंगे, परन्तु वे हमें कहीं नहीं ले गये।

जाँच-पड़ताल की इस प्रक्रिया में सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता—आप एक अच्छे वैज्ञानिक की तरह जाँच-पड़ताल कर रहे हैं, विना किसी परिणाम की खोज करते हुए। जब किसी तरह की सत्ता नहीं होतो तव कोई पद्धति और साधना भी नहीं होती। एक विधि या पद्धति का अर्थ है एक निश्चित क्रम—एक आदत का निर्माण।

जब आप किसी विधि या पद्धति का अभ्यास प्रतिदिन करते हैं, तो आपका मन निरपवाद रूप से जड़ और संवेदनशून्य हो जाता है। यह बात बिलकुल साफ और स्पष्ट है। अतः विधि, पद्धति एवं साधनाएँ पूर्णतः समाप्त हो जानी चाहिए। तो अब आप देखिये कि ऐसे मन के साथ क्या घटित होता है जो भयभीत नहीं है, जो किसी सुख या मनोरंजन की खोज नहीं कर रहा है, जो किसी सत्ता पर अब निर्भर नहीं है बल्कि जो वस्तुतः जाँच-पड़ताल कर रहा है। ऐसा मन जो अब किसी सत्ता पर निर्भर नहीं है, उसके लिए भय का अस्तित्व नहीं है और इसलिए यह जाँच-पड़ताल कर सकता है। ऐसा मन वस्तुतः असाधारण रूप से तीव्र, तीक्ष्ण, गम्भीर और जीवन्त हो चुका है। कृपया इसे याद रखें कि जब हम 'मन' शब्द का प्रयोग करें तो हमारा तात्पर्य हृदय के साथ-साथ यह सम्पूर्ण संघटित शरीर-रचना भी है। मन की ऐसी गुणवत्ता में परम सौंदर्य निहित है और चूँकि यह किसी विधि-पद्धति के जाल में नहीं उलझा है, इसलिए यह साफ-साफ जाँच-पड़ताल कर सकता है एवं अवलोकन कर सकता है, तथा अवलोकन से सीख सकता है। सीखना वस्तुतः क्रिया से भिन्न नहीं है। सीखने का अर्थ है करना। राष्ट्रीयता, पृथक्ता के खतरे, लोगों के बीच विभाजन—जब आप इस सब का अवलोकन करते हैं और इसे समझ लेते हैं तो यह समझ ही इस विभाजन का अन्त बन जाता है। अतः अवलोकन आश्चर्यजनक रूप से आवश्यक है।

सम्भवतः आप सभी योग के बारे में जानते हैं। ढेर सारी पुस्तकें इस पर लिखी गयी हैं; कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा, जो भारत में कुछ महीनें रहा है और जिसने थोड़ा-सा योग सीख लिया है, योगी बन जाता है। योग की कई ढंग से परिभाषाएँ दी गयी हैं। वस्तुतः योग जीवन की एक शैली है—न कि स्वयं को युवा बनाये रखने के लिए कुछ-एक व्यायामों का अभ्यास मात्र। योग का अर्थ है जीवन की एक ऐसी शैली जिसमें कोई विभाजन नहीं है और इसलिए कोई द्वंद्व भी नहीं है वक्ता की दृष्टि में योग का यही अर्थ है। निःसंदेह सही ढंग का नियमित व्यायाम अच्छा है, यह शरीर को सुनम्य और सुकुमार बनाता है। वक्ता वर्षों से इस प्रकार का व्यायाम करता रहा है—आसन, प्राणायाम इत्यादि—किसी अद्‌भुत अवस्था को उपलब्ध करने के लिए नहीं बल्कि शरीर को सुनम्य और सुकुमार रखने के लिए। आपको न केवल सही ढंग का व्यायाम बल्कि सही ढंग का आहार भी अपनाना चाहिए—मांस आदि का आहार नहीं, जो अनिवार्यतः क्रूरता और असंवेदनशीलता पैदा करता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए सम्यक् आहार का पता लगाना होगा, इसके लिए प्रयोग और परीक्षण करना होगा।

आजकल कुछ लोग ध्यान के नाम पर मन्त्र-जप की शिक्षा आप पर थोप रहे हैं। वे आपसे पांच या तीस डालर लेकर एक मन्त्र दे देते हैं—संस्कृत के कुछ शब्द,

जिसे आपको वार-वार दोहराना पड़ता है। कैथोलिक ईसाई भी एक माला रखते हैं और उसपर 'आवि मरीअ' या किसी और शब्द का जाप करते हैं। क्या आपको पता है, जव आप कुछेक शब्दों को निरंतर दोहराये चले जाते हैं, तो क्या होता है ? आप अपने को सम्मोहित करके शान्त कर लेते हैं। आप शब्दों की स्वर-लहरियों पर सवार हो जाते हैं। जव आप कोई शब्द वार-वार दोहराते हैं तो यह एक आन्तरिक ध्वनि उत्पन्न करता है, और यह आन्तरिक ध्वनि गूँजती चली जाती है। इसे सुनते हुए आप महसूस करते हैं कि यह असाधारण रूप से जींवंत हो उठा है, और आप सोचते हैं कि यह अत्यन्त अद्भुत चीज है। किन्तु ऐसा कुछ नहीं है, यह आत्मसम्मोहन का ही एक रूप है। अतः इसे आपको पूर्णतः अस्वीकार कर देना होगा।

अव हम विलकुल ही भिन्न चीज पर आते हैं—सजगता और होश। मुझे पता नहीं, आपने कभी इसकी जाँच-पड़ताल की है या नहीं—पुस्तकें पढ़कर नहीं या एशिया के किसी मठ और विहार में जाकर सजग होने की विधि सीखकर नहीं। यदि आपने इसकी छानवीन स्वयं की है तो आपको पता होगा कि दूसरों द्वारा शिक्षित नहीं होने का क्या अर्थ है। आपको अपने लिए स्वयं यह सीखना होगा कि सजगता का क्या अर्थ है—अर्थात् आप जिस हॉल में वैठे हुए हैं उसके प्रति सजग होना; उसका अनुपात, उसमें प्रयोग किये गये रंग, इस सवके प्रति सजग होना; विना यह कहते हुए कि यह सुन्दर है, यह कुरूप है, वल्कि सिर्फ अवलोकन करना। जव आप रास्ते पर चलें तो अपने चारों ओर की चीजों के प्रति आपको सजग होना चाहिए, वादल, पेड़, जल की सतह पर झिलमिलाता प्रकाश, उड़ते हुए पक्षी—इन सव का अवलोकन करते हुए। इस प्रकार सजग होना कि विचार हस्तक्षेप न करे—कि यह ठीक है, यह गलत है, ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, इत्यादि। वाहर जो चीजें घटित हो रही हैं उनके प्रति सजग होना और तब अपने भीतर की ओर सजग होना—अर्थात् विचार की प्रत्येक गतिविधि का निरीक्षण करना, प्रत्येक भाव और प्रत्येक प्रतिक्रिया का निरीक्षण करना। ऐसा करने से मन असाधारण रूप से सजीव हो जाता है।

एकाग्रता और सजगता में फर्क है। एकाग्रता का अर्थ है एक को छोड़कर अन्य को वहिष्कृत करना, उनका प्रतिरोध करना। अतः इस प्रक्रिया में द्वंद्व निहित है। जव आप किसी चीज पर मन को एकाग्र करने की कोशिश करते हैं, उस समय क्या आपने अपने मन का निरीक्षण किया है ? मन वार-वार भटक कर दूर चला जाता है और आप उसे पीछे खींचने की कोशिश करते हैं—इस तरह एक लड़ाई चलती रहती है। आप किसी चीज पर ध्यान को केन्द्रित एवं एकाग्र करना चाहते हैं, और विचार की दिलचस्पी किसी और चीज में होती है जिसपर यह सोचने लगता है या यह खिड़की के वाहर देखना चाहता है कि वहाँ क्या हो रहा है। इस द्वंद्व में ऊर्जा और समय का अत्यधिक अपव्यय होता है।

आपको इसकी जाँच-पड़ताल करनी है कि मन क्यों सदा बकवक करता रहता है। यह क्यों स्वयं के साथ या किसी अन्य के साथ निरन्तर प्रलाप करता रहता है ? या यह क्यों सदा किसी चीज में व्यस्त रहना चाहता है—पुस्तक पढ़ने में, रेडियो सुनने में, इत्यादि। मन क्यों सदा सक्रिय रहना चाहता है ? क्यों ? शायद आपने इस तथ्य का कभी अवलोकन किया हो कि आपमें चंचलता और बेचैनी की एक आदत है—आपका शरीर कभी अधिक समय तक शान्त और स्थिर नहीं बैठ सकता, यह सदा कुछ न कुछ करता रहता है या चुलबुलाता रहता है, बेचैन और परेशान रहता है। मन भी बड़-बड़ाता रहता है, अन्यथा इसे भय है कि पता नहीं इसका क्या होगा, इसलिए यह सदा किसी चीज के साथ स्वयं को व्यस्त रखता है। समाज सुधार में, किसी विश्वास में, किसी लड़ाई-झगड़े में, अतीत की किसी घटना में अथवा किसी न किसी चीज में मन सदा स्वयं को व्यस्त रखता है। अर्थात् मन सतत सोचता रहता है।

जैसा कि हम कह रहे थे, सजगता एकाग्रता से पूर्णतः भिन्न है। होश और सजगता साथ-साथ चलते हैं—परन्तु एकाग्रता नहीं। ऐसा मन जो तीव्र और गहन रूप से सजग एवं होशपूर्ण है, वह बिना किसी प्रतिरोध तथा विकृति के साफ-साफ अवलोकन कर सकता है। वस्तुतः ऐसा मन ही वस्तुपरक ढंग से कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। ऐसे मन की गुणवत्ता क्या है ?

मैं आशा करता हूँ कि आपकी दिलचस्पी इसमें है, क्योंकि यह जीवन का ही अंग है। यदि आप इस सबको अस्वीकार करते हैं तो आप समस्त जीवन को भी अस्वीकार कर देते हैं। यदि आप ध्यान के अर्थ और इसके सौंदर्य को नहीं जानते हैं, तो आप वस्तुतः जीवन के बारे में कुछ नहीं जानते। भले ही आपके पास आधुनिकतम मोटर कार हो, पूरे विश्व में स्वच्छन्द भ्रमण करने की सुविधा और सामर्थ्य हो, किन्तु यदि आप यह नहीं जानते हैं कि ध्यान का वास्तविक आनन्द, सौंदर्य और मुक्ति क्या है, तो आप जीवन के एक बहुत बड़े हिस्से को चूक रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि आप कह उठें, "मुझे ध्यान करना सीखना ही चाहिए।" ध्यान तो एक ऐसी चीज है जो सहज रूप से घटित होती है। ऐसा मन जो खोजबीन कर रहा है, वह अवश्यम्भावी रूप से यहाँ तक पहुँचेगा। ऐसा मन जो सजग है, जो अपने भीतर घटित होती हुई चीज का अवलोकन कर रहा है—वह वस्तुतः स्वयं को जान रहा है और समझ रहा है।

हम पूछ रहे हैं, ऐसे मन की गुणवत्ता क्या है जो बिना किसी प्रयास के सहज रूप से यहाँ तक आ पहुँचा है ? जब आप एक पेड़ या बादल को, अथवा अपनी पत्नी, अपने पति या पड़ोसी के चेहरे को देखते हैं, तो आप केवल मौनपूर्वक अत्यन्त साफ-साफ अवलोकन कर सकते हैं। इसी प्रकार आप साफ-साफ तभी सुन सकते हैं जब आपके

भीतर स्वनिर्मित शोर-गुल न चल रहा हो। यदि आप अपने साथ प्रलाप कर रहे हैं अथवा जो कहा जा रहा है उसकी तुलना उससे कर रहे हैं जो आप पहले से जानते हैं, तो वस्तुतः आप सुन ही नहीं रहे हैं। जब आप अपनी आँखों से अवलोकन कर रहे होते हैं, उस समय यदि सभी प्रकार के पूर्वाग्रह और ज्ञान हस्तक्षेप करने लगते हैं, तो आप वस्तुतः अवलोकन नहीं कर पाते। अतः यदि आपको सचमुच सुनना और अवलोकन करना है, तो आप केपल मौनपूर्वक अर्थात् निर्विचार होकर ही ऐसा कर सकते हैं।

पता नहीं, आप वहाँ तक कभी जा पाये हैं या नहीं! यह ऐसी चीज नहीं है जिसका आप विकास कर सकते हैं, जिसका साक्षात्कार आप वर्षों की मेहनत के बाद ही कर सकते हैं; क्योंकि यह समय की या तुलना की उपज नहीं है। यह वस्तुतः अपने दैनिक जीवन में किये जाने वाले अवलोकन की उपज है—अर्थात् विचार का अवलोकन और विचार की समझ। जब मन पूर्णतः सजग होता है तो यह असाधारण रूप से शान्त और मौन हो जाता है; यह नींद में नहीं चला जाता है बल्कि यह उस मौन में पूर्णतः जाग्रत रहता है। केवल ऐसा मन सत्य का दर्शन कर सकता है अर्थात् ऐसा मन ही जान सकता है कि कोई ऐसी चीज है या नहीं जो इन सबों के पार हो। ऐसा मन ही एक धार्मिक मन है, क्योंकि यह पूर्णतः अतीत का परित्याग कर चुका है—यद्यपि यह अतीत की स्मृति का उपयोग कर सकता है। धर्म तब एक ऐसी चीज है जिसे शब्दों में नहीं रखा जा सकता, जिसे विचार द्वारा नहीं मापा जा सकता है। और विचार का स्वभाव ही है सदा मापतौल करते रहना—विचार, जो अतीत की प्रतिक्रिया है। विचार कदापि मुक्त नहीं है, क्योंकि यह सदा ज्ञात की सीमा के भीतर ही कार्य करता रहता है।

तो जो मन यह समझने की सामर्थ्य रखता है कि सत्य क्या है, वास्तविकता क्या है—यदि वास्तविकता जैसी कोई चीज है—वैसे मन को मनुष्य की समस्त चालाकी, दाँव-पेच, छल-प्रपंच और भ्रान्तियों से पूर्णतः मुक्त हो जाना होगा। और यह एक बृहत् कार्य है। इसका अर्थ है एक आन्तरिक अनुशासन—एक ऐसा अनुशासन जो अनुकरण, अनुसरण या समझौता नहीं है। 'जो है' उसके अवलोकन से ही इस अनुशासन का जन्म होता है। 'जो है' उसका अवलोकन ही उसके बारे में सीखना है। स्वयं के बारे में यह सीखना ही स्वयं अपना अनुशासन है। इस प्रकार व्यवस्था का जन्म होता है, और इसी के साथ आपके भीतर अव्यवस्था का अन्त हो जाता है। इन वार्ताओं के आरम्भ से लेकर अब तक जो बातें कही गयीं, वे ध्यान का ही अंग है।

यदि आप जानते हैं कि एक बादल को या समुद्र की सतह पर फैले हुए प्रकाश के सौंदर्य को कैसे देखें, यदि आप जानते हैं कि अपनी पत्नी को अथवा किसी लड़के या लड़की को, युवक या युवती को कैसे देखें—अर्थात् यदि आपके पास देखने को ताजा आँखें हैं एवं एक ऐसा निर्दोष मन है जिसको कभी क्षति नहीं पहुँची है तथा जो आँसुओं में डूबा हुआ नहीं है—तभी यह सम्भव है कि मन उसे देख पाये, जो सत्य है।

प्रश्नकर्त्ता :—कुछ समय पूर्व मैंने अपने लिए आपकी इस उक्ति को सत्यापित किया था कि—आन्तरिक मुक्ति की कुन्जी इस अनुभूति में निहित है कि द्रष्टा और दृश्य एक हैं। उस समय मुझे एक अत्यन्त कठिन और थकानेवाला काम पूरा करना था, जिसके लिए मैंने एक बृहत् प्रतिरोध निर्मित कर लिया। मैंने तब स्पष्ट अनुभव किया कि मैं ही यह प्रतिरोध हूँ और वस्तुतः प्रतिरोध ही प्रतिरोध को देख रहा है। अचानक वह प्रतिरोध चला गया—एक चमत्कार की तरह—और मेरे पास शारीरिक शक्ति भी आ गयी अपने कार्य को पूरा करने के लिए।

कृष्णमूर्ति : क्या मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसकी आप पुष्टि और उसका अनुमोदन करने की कोशिश कर रहे हैं, श्रोता को या मुझको प्रोत्साहन देने के लिए? (हँसी)!

प्रश्नकर्त्ता : उस बिन्दु पर पहुँचना जहाँ से आप देख सकें कि द्रष्टा और दृश्य एक हैं इसके लिए बृहत् ऊर्जा आवश्यक है।

कृष्णमूर्ति : सज्जन का कहना है कि द्रष्टा ही दृश्य है; अर्थात् जब आपको भय होता है, तो द्रष्टा भय का ही हिस्सा है। द्रष्टा अपना सम्बन्ध भय से नहीं जोड़ रहा है बल्कि वह स्वयं भय का ही हिस्सा है। इस बात का स्पष्ट अनुभव करना बहुत हद तक आसान है। या तो आप शाब्दिक रूप से और सैद्धान्तिक रूप से इसका अनुभव करते हैं—शब्दों के अर्थ को समझते हुए—या आप वस्तुतः देखते हैं कि द्रष्टा और दृश्य एक हैं। यदि आप सचमुच इसे देखते हैं तो यह आपके जीवन में एक बहुत बड़ा अन्तर लाता है; यह द्वन्द्व का अन्त कर देता है। जब द्रष्टा और दृश्य के बीच एक विभाजन होता है, एक दूरी होती है, तो वहाँ समय का एक अन्तराल निर्मित हो जाता है और इसीलिए द्वन्द्व पैदा होता है। द्रष्टा और दृश्य वस्तुतः एक हैं—जब आप इस बात को अपने अवलोकन द्वारा आजमा कर सही-सही देख लेते हैं, तब आप अपने सम्बन्धों में एवं अपने जीवन में समस्त द्वन्द्व का अन्त कर लेते हैं।

प्रश्नकर्त्ता : जब हम यह अनुभव करते हैं कि बाह्य और आभ्यन्तर के बीच ही, स्मृति के रूप में, अतीत अन्तःप्रविष्ट है, तो हम क्या कर सकते हैं? हम इसे रोक नहीं सकते—यह चलता रहता है।

कृष्णमूर्ति : बाह्य और आभ्यन्तर के बीच स्मृति अन्तःप्रविष्ट है। मन, जो कि स्मृति के रूप में अतीत है, बाह्य और आभ्यन्तर से भिन्न है। इस प्रकार अब तीन चीजों का वहाँ अस्तित्व है—बाह्य, आभ्यन्तर और अतीत के रूप में मन। महाशय, कृपया हँसे नहीं—यही हमारा जीवन है, यही हमारा कृत्य है; भले ही हम प्रश्न को थोड़े भिन्न ढंग से रखें किन्तु हमारे दैनिक जीवन में वस्तुतः यही तो हो रहा है। आप कुछ करना चाहते हैं; मन कहता है, "इसे मत करो," या, "इसे दूसरे ढंग से करो।"

इस प्रकार एक लड़ाई चलती रहती है। मन हस्तक्षेप कर रहा है; मन अर्थात् विचार— और विचार अतीत है। विचार यथार्थ यानी आभ्यन्तर और वाह्य के बीच चला आता है। तो हमें क्या करना है ? विचार का कार्य है विभाजित करना—इसने जीवन को भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में विभाजित कर रखा है। विचार ने ही वाह्य और आभ्यन्तर के वीच विभाजन खड़ा कर रखा है। और फिर विचार ही कहता है, "मैं इन दोनों को मिलाकर कैसे एक कर दूँ ?" क्या विचार इसे कर सकता है—विचार जो कि स्वयं विभाजन का कारण है ?

प्रश्नकर्त्ता : **जहाँ चाह है वहाँ राह है।**

कृष्णमूर्ति : नहीं, महाशय। आपकी चाह रही है लोगों का विनाश करने की, और आप इसमें कामयाव रहे हैं, आपने कोई न कोई राह निकाल ही ली है। हम चाह की वात नहीं कर रहे हैं; चाह सवसे विनाशकारी चीज है, क्योंकि चाह सुख और इच्छा पर आधारित है, मुक्त आनंद पर आधारित नहीं है।

क्या आप यह पूछ रहे हैं कि विचार को शांत कैसे किया जा सकता है ? विचार मौन कैसे हो सकता है ? क्या यह सही प्रश्न है ? क्योंकि यदि आप गलत प्रश्न पूछेंगे तो जरूर गलत उत्तर ही पायेंगे। (हँसी)। नहीं, महाशय, यह हँसने की बात नहीं है। आपको सही प्रश्न ही पूछना चाहिए। क्या यह सही प्रश्न है—विचार का अन्त कैसे हो सकता है ? इसके वदले क्या आपको यह पता नहीं लगाना चाहिए कि विचार का कार्य क्या है ? यदि आप विचार का अन्त कर लेंगे—यदि ऐसा सम्भव भी हो—तो आप अपने कार्यालय कैसे जायेंगे ? स्पष्टतः विचार आवश्यक है ?

हम यह कह रहे हैं कि एक खास दिशा में विचार खतरनाक है, क्योंकि यह विभाजित करता है। और फिर भी एक दूसरी दिशा में विचार को स्वस्थचित्त होकर विवेकपूर्वक वस्तुपरक ढंग से और तर्कसंगत रूप में कार्य करना ही चाहिए। यह कैसे सम्भव है ? यह कैसे सम्भव है कि विचार हस्तक्षेप न करे ? क्या आप असली समस्या को देख रहे हैं ? सवाल यह नहीं है कि विचार का अन्त कैसे हो। यदि आप सवाल को बिलकुल सही ढंग से रखेंगे तभी आप समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में देख पायेंगे। विचार—जो अतीत की प्रतिक्रिया है—हस्तक्षेप करता है, वाह्य और आभ्यंतर जैसा विभाजन करता है, और इस प्रकार यह एकता खंडित करता है। अतः हम कहने लगते हैं, "हम विचार को ही नष्ट कर लें, हम मन को ही मार डालें।" यह बात ही गलत है। इसके वजाय यदि आप विचार के सम्पूर्ण ढाँचे की जाँच-पड़ताल करें, यह देखें कि इसका स्थान क्या है, कहाँ यह अनावश्यक है—तो आपको पता चलेगा कि मन की वह प्रज्ञा क्या है जो विचार के आवश्यक होने पर और विचार के अनावश्यक होने पर, इन दोनों स्थितियों में कार्य करती है।

प्रश्नकर्त्ता : **ऐसा क्यों है कि 'जो है' उसके प्रति आपकी सजगता मुझसे अधिक गहरी है ? इसका राज क्या है ?**

कृष्णमूर्ति : मैंने सचमुच इस सम्बन्ध में कभी सोचा ही नहीं है। जरा इस बात पर गौर कीजिए—क्या विनम्रता पैदा करने की चीज है? यदि आप विनम्रता पैदा करते हैं तो यह अहंकार ही है। यदि आप 'जो है' उसके प्रति सजगता पैदा करते हैं तो आप वस्तुतः सजग नहीं हो रहे हैं। किन्तु यदि आप उस समय सजग रहते हैं जब आप किसी बस में बैठे हैं या कार चलाते हैं या जब आप देखते या बोलते हैं या मौज उड़ाते हैं, तो इससे सरलता और सहजतापूर्वक 'जो है' उसके प्रति सजगता का आगमन होता है। किन्तु 'जो है' उसके प्रति यदि आप बलात् ध्यान देकर सजगता पैदा करने की कोशिश करते हैं, तो वहाँ विचार ही कार्यरत है, न कि सजगता।

प्रश्नकर्त्ता : **क्या आपने यह कहा है कि मुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पास कोई गुरु नहीं हो? क्या मैंने ठीक से इसे समझा है?**

कृष्णमूर्ति : गुरु का क्या कार्य है? यदि उसे विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, कंप्यूटर जैसे विषयों की जानकारी है, तो उसका कार्य है दूसरों को इन विषयों की जानकारी और शिक्षा देना। यह समझना बहुत कुछ सरल और आसान है। किन्तु यदि बात ऐसे गुरु की हो रही है जो कहता है कि मैंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है और यह ज्ञान मैं अपने शिष्यों को प्रदान करना चाहता हूँ, तो आप सावधान एवं सतर्क हो जाइए, क्योंकि जो कहता है कि मैं जानता हूँ वह दरअसल जानता ही नहीं। सत्य, बुद्धत्व—या आप उसे जो नाम देना चाहें—उसके सौन्दर्य का वर्णन कभी किया ही नहीं जा सकता—वह तो बस है। वह तो एक जीवित चीज है—जो सतत् सक्रिय, चलायमान और निर्भार है। केवल एक मृत चीज के बारे में आप कह सकते हैं कि यह क्या है; और जो गुरु आपको मृत चीजों की शिक्षा देता है वह गुरु है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : **एकाग्रता, सजगता और अनुशासनको हम एक साथ कैसे रख सकते हैं?**

कृष्णमूर्ति :—परंपरागत अनुशासन में आप दूसरों से सीखते हैं। अनुशासित शिष्य अपने गुरु से सीखता है। क्या आपने कभी इस पर विचार किया है, या इस प्रश्न की छानबीन की है कि सीखना किसे कहते हैं? सक्रिय वर्तमान में 'सीखना' क्रिया का क्या अर्थ है? या तो आप इसलिए सीखते हैं कि आप पहले से जो कुछ जानते हैं उसमें और कुछ जोड़ सकें ताकि यह आपका ज्ञान बन जाये—विज्ञान आदि विषयों की तरह—या एक अन्य प्रकार का भी सीखना है जो ज्ञान का संग्रह नहीं है बल्कि जो एक गति है। क्या आप इन दोनों में फर्क देख रहे हैं? या तो हम जानकारी प्राप्त करने के लिए सीखते हैं—अर्थात् वैज्ञानिक, तकनीकी इत्यादि ढंग की कुशलता और दक्षता प्राप्त करने के लिए—या हम हर समय कुछ न कुछ सीखते रहते हैं जो सदा नया है, और इसलिए हमारी क्रिया सदा नयी होती है। मान लीजिए, मैं स्वयं को जानना चाहता हूँ, स्वयं के बारे में सीखना चाहता हूँ। मैं एक अत्यंत जटिल प्राणी हूँ—अपने

प्रकट और अप्रकट दोनो रूप में। मैं स्वयं को अपनी पूर्ण समग्रता में जानना चाहता हूँ। अतः मैं स्वयं का निरीक्षण करता हूँ और मैं पाता हूँ कि मैं भयभीत हूँ। निरीक्षण के क्रम में मैं भय के कारण को देखता हूँ, उसके वारे में सीखता हूँ और वह मेरा ज्ञान वन जाता है। अव यदि अगली वार भय उत्पन्न होने पर मैं उसे अपने पिछले संगृहीत ज्ञान से ही देखूँ तो इसका अर्थ है कि मैंने सीखना वंद कर दिया है। मैं तव भय को अतीत की आँखों से ही देख रहा हूँ और इसलिए उस क्षण वस्तुतः जो घटित हो रहा है उसके वारे में मैं सीख नहीं रहा हूँ। स्वयं के वारे में सीखने के लिए मुक्ति होनी चाहिए ताकि सतत् अवलोकन चलता रहे—अतीत के हस्तक्षेप के विना, विचार के हस्तक्षेप के विना।

तो दो तरह का सीखना हो सकता है। एक है जानकारी प्राप्त करने के लिए जिसका उपयोग मैं कतिपय क्षेत्रों में कुशलता-पूर्वक कार्य करने के लिए कर सकता हूँ। दूसरे तरह का जो सीखना है वह है : स्वयं के वारे में सीखना—सीखने की इस प्रक्रिया में अतीत अर्थात् विचार का हस्तक्षेप हर समय नहीं होता है। इस तरह से मैं निरंतर अवलोकन कर सकता हूँ और इसलिए मन सदा संवेदनशील वना रहता है।

प्रश्नकर्त्ता : मैं आपसे पूछना चाहूँगा : आप मांस मछली खाते हैं या नहीं।

कृष्णमूर्ति : क्या सचमुच इसमें आपकी दिलचस्पी है? मैंने अपने जीवन में मांस या मछली का स्पर्श नहीं किया है—मैंने कभी इसका स्वाद नहीं लिया है; कभी धूम्रपान या मदिरापान भी नहीं किया है। मेरे लिये इन चीजों का न कोई आकर्पण है न कोई अर्थ है। क्या यह आपको भी एक शाकाहारी वनायेगा? (हँसी)। यह नहीं वनायेगा। आप देखते हैं कि नायक, उदाहरण, प्रेरणा—ये सवसे खराव चीजें हैं जो मनुष्य के पास हैं। अतः आप स्वयं पता लगाइए कि आप मांस-मछली क्यों खाते हैं; आप धूम्रपान और मादिरापान क्यों करते हैं, आप एक सादा और सरल जीवन क्यों नहीं विता सकते। इसका अर्थ यह नहीं कि पहनने के लिए एक ही वस्त्र रखना, दिन में एक ही वार भोजन करना। सरल जीवन से हमारा तात्पर्य मन की वह गुणवत्ता है जो सरल है तथा जो सुख, इच्छा, महत्वाकांक्षा और प्रयोजन की विकृतियों से मुक्त है—और तभी आप सीधे एवं प्रत्यक्ष रीति से देख सकते हैं तथा जगत् के सौन्दर्य का अवलोकन कर सकते हैं।

प्रश्नकर्त्ता : मैं पूछना चाहता था : हास्य क्या है?

कृष्णमूर्ति : मैं समझता हूँ कि वस्तुतः इसका अर्थ है—स्वयं पर हँसना। हमारे हृदय में ढेर सारे आँसू हैं, ढेर सारा दुःख है—अतः हँसी के साथ स्वयं को देखना। न केवल स्पष्टता और गंभीरता के साथ अवलोकन करना वल्कि हँसी के साथ भी—यदि आप ऐसा कर सकें।

सैन्टा मॉनिका कैलिफॉर्निआ (अमरीका)
मार्च ८, १९७०



खण्ड २

५

भय

"जब भय आप के भीतर जगे उस समय क्या आप केन्द्र से मुक्त होकर इसका अवलोकन कर सकते हैं—बिना इसे कोई नाम देते हुए ? इसके लिए प्रचण्ड अनुशासन चाहिए।"

आपको गम्भीर होना होगा, क्योंकि जो व्यक्ति अपने समस्त प्राणों से गम्भीर है वे ही एक ऐसा जीवन जी सकते हैं जो सम्पूर्ण और समग्र है। और इस गम्भीरता में हर्ष एवं आनन्द भी समाविष्ट है; किन्तु जब तक भय का अस्तित्व है तब तक सम्भवतः आप नही जान सकते कि परम आनन्दित होने का क्या अर्थ है। भय जीवन की अत्यन्त सामान्य चीजों में से एक प्रतीत होता है, और यह आश्चर्य की बात है कि हमने इसे एक जीवन-शैली के रूप में स्वीकार कर रखा है—ठीक वैसे ही जैसे हमने विभिन्न प्रकार की समस्त हिंसा को एक जीवन-शैली के रूप में स्वीकार कर रखा है—और इस प्रकार हम मनोवैज्ञानिक रूप से भयभीत होने के अभ्यस्त हो चुके हैं।

मुझे लगता है कि हमें भय के इस प्रश्न की पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिए और इसे पूर्णतः समझना चाहिए, ताकि जब हम यहाँ से जायें तो हम भय से मुक्त हों। यह मात्र एक सिद्धान्त या आशा नहीं है, बल्कि ऐसा किया जा सकता है। यदि आप इस ओर अपना पूरा ध्यान दें कि आप भय का सामना कैसे करते हैं, इसे कैसे देखते हैं, तो आप पायेंगे कि मन इससे पूर्णतः मुक्त हो जाता है—मन, जिसने इतना अधिक कष्ट भोगा है, इतनी अधिक पीड़ा झेली है; मन, जो परम दुःख और भय के साथ जीता रहा है। इसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि आपके पास कोइ पूर्वाग्रह न हो—क्योंकि पूर्वाग्रह के कारण ही 'जो है' उसकी सचाई को आप समझ नहीं पाते हैं। मिलजुलकर एक साथ यह यात्रा करने का अर्थ है : न स्वीकार और न ही इन्कार; अर्थात यह कहना ही नहीं कि भय से मुक्त होना बिलकुल असम्भव है या बिलकुल सम्भव है। इस प्रश्न की छानबीन करने के लिए आपके पास एक मुक्त और स्वतन्त्र मन होना चाहिए—अर्थात् ऐसा मन, जो चूँकि किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा है, इसलिए यह अवलोकन और जाँच-पड़ताल करने के लिए स्वतन्त्र है।

अनेक तरह के मनोवैज्ञानिक और मनःशारीरिक भय होते हैं। भय के इन विभिन्न रूपों में से यदि हम एक-एक की जाँच करने लगें तथा इनके एक-एक पहलू का अवलोकन करने लगें, तो इसमें वहुत अधिक समय लग जायगा। किन्तु हम भय के सामान्य गुण-धर्म एवं लक्षण का अवलोकन तो कर ही सकते हैं। हम अपने किसी खास भय की वारीकियों या इसके विस्तार में गये विना इसके सामान्य स्वरूप और ढाँचे का अवलोकन करेंगे। जव आप इस ढंग से भय के स्वरूप और ढाँचे को समझ लेंगे, तो इस समझ के साथ आप अपने किसी खास भय का भी सामना कर सकते हैं।

आप अँधेरे से भयभीत हो सकते हैं; आप अपनी पत्नी या अपने पति से भयभीत हो सकते हैं, या आप इस बात से भयभीत हो सकते हैं कि लोग क्या सोचते, कहते और करते हैं। आपको अकेलेपन के अनुभव का या जीवन के खालीपन और सूनेपन का भय हो सकता है अथवा आपको अपने निरर्थक अस्तित्व की ऊव आदि नीरसता का भय हो सकता है। आपको भविष्य का अर्थात आने वाले कल की अनिश्चितता और असुरक्षा का भय हो सकता हैं, एटमवम का भय हो सवता है। आपको मृत्यु का अर्थात् अपने जीवन के अन्त होने का भय हो सकता है। इस प्रकार भय के वहुत सारे रूप हैं—ऐसे भय जो सिर्फ विक्षिप्त व्यक्तियों में पाये जाते हैं, और ऐसे भय जो स्वस्थचित्त व्यक्तियों में भी होते हैं। यद्यपि यह एक अलग प्रश्न है कि भय एक स्वस्थ चित्त का लक्षण है या नहीं। हममें से अधिकांश व्यक्तियों को विक्षिप्तता की हद तक अतीत का भय होता है, आज का या आनेवाले कल का भय होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भय के साथ समय भी जुड़ा हुआ है।

तो ऐसे भय हो सकते हैं· जो प्रकट हैं और जिनसे आप अवगत हैं। किंतु कुछ ऐसे भय भी होते हैं जो आपके मन की गहराइयों में छिपे वैठे होते हैं, जिनका आप को पता नहीं होता। तो आप प्रकट और अप्रकट इन दोनों तरह के भय से कैसे निपटेंगे? 'जो है', उससे दूर हटने की जो क्रिया है उसी में भय का अस्तित्व है, अर्थात जो वस्तुतः है उसकी उपेक्षा करना तथा उससे पलायन करना और भागना ·ही भय है। यह दूर भागने की क्रिया ही भय उत्पन्न करती है। जहाँ किसी प्रकार की तुलना होती है वहाँ भी भय उत्पन्न होता है—जैसे, जो आप हैं उसकी तुलना उससे जो आप होना चाहते हैं। अतः जो वस्तुतः है उससे पलायन करने की क्रिया में ही भय विद्यमान है—न कि भय स्वयं उस चीज में विद्यमान है जिससे आप पलायन कर रहे हैं।

तो भय की ये जितनी समस्याएँ हैं इनमें से किसी का भी समाधान इच्छाशक्ति द्वारा नहीं हो सकता—जैसे यह संकल्प लेना कि मैं भयभीत नही होउँगा! इच्छाशक्ति की ऐसी क्रिया का कोई अर्थ नहीं है।

हम एक अत्यन्त गंभीर समस्या पर विचार कर रहे हैं, अतः इस ओर आपको अपना पूरा ध्यान देना होगा। किन्तु जो कहा जा रहा है उसकी तुलना यदि आप उससे कर रहे हैं जो आप पहले से जानते हैं, और इसी के अनुसार उसका अर्थ लगा रहे हैं तथा उसकी व्याख्या कर रहे हैं— तो इस स्थिति में आप अपना ध्यान उस ओर नहीं दे सकते जो कहा जा रहा है। आपको सही-सही सुनना पड़ेगा; आपको सुनने की कला सीखनी पड़ेगी। सामान्यतः आप तुलना करने में, मूल्यांकन करने में, निर्णय देने में, सहमत होने में या अस्वीकार करने में ही लगे रहते हैं और इसलिए आप सुन नहीं पाते; वस्तुतः सुनने के मार्ग में आप स्वयं बाधा डालते हैं। इतनी समग्रता से सुनने का अर्थ है कि आप अपना सम्पूर्ण ध्यान दें—इसका अर्थ आपकी सहमति या असहमति नहीं है। चूँकि हम मिलजुलकर एक साथ खोजबीन कर रहे हैं इसलिए सहमति या असहमति का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु हमें इसका ख्याल रखना है कि हमारा 'माइक्रोस्कोप' यानी अवलोकन करने का हमारा जो साधन है वह साफ और स्पष्ट है या नहीं। एक अच्छे माइक्रोस्कोप से जो एक व्यक्ति को दिखाई पड़ता है वही दूसरे व्यक्ति को भी दिखाई पड़ता है, इसलिए वहाँ सहमति या असहमति का प्रश्न नहीं होता। भय के इस पूरे प्रश्न की जाँच करने के लिए आपको अपना सम्पूर्ण ध्यान देना होगा; और इसे याद रखें कि जब तक भय का निराकरण नहीं कर लिया जाता तब तक यह मन को निर्जीव, निष्प्राण, जड़ और असंवेदनशील बनायेगा ही।

अपने भीतर मौजूद अप्रकट भय को कैसे उद्घाटित किया जा सकता है? प्रकट भय को आसानी से जाना जा सकता है, परन्तु अप्रकट भय शायद अधिक महत्वपूर्ण है। अतः आप इनसे कैसे निपटेंगे, इन्हें कैसे उद्घाटित करेंगे? क्या इनके विश्लेषण द्वारा तथा इनके कारणों की खोज द्वारा इन्हें उद्घाटित किया जा सकता है? क्या विश्लेषण मन को भय से मुक्त करेगा—भय अर्थात् इसका सम्पूर्ण ढांचा, न कि विक्षिप्तावस्था का कोई एक विशेष भय? विश्लेषण की इस प्रक्रिया में न केवल विश्लेषक निहित है बल्कि समय भी—इसमें न केवल कई महीने और वर्ष लग सकते हैं बल्कि आपका पूरा जीवन भी लग सकता है। और जीवन का अन्त आते-आते यदि आप थोड़ा-बहुत भय को समझ भी जायें, तो आप तब तक कब्र में पाँव लटका चुके होंगे। विश्लेषण कौन करेगा? यदि वह कोई विशेषज्ञ है, पेशेवर मनोविश्लेषक, जिसके पास योग्यता की डिग्री है, तो वह भी तो समय लेगा; और वह स्वयं भी अनेक तरह के संस्कारों से प्रभावित हो सकता है। यदि यह विश्लेषण आप स्वयं करते हैं तो इसमें भी एक विश्लेषक मौजूद हो जाता है, अर्थात् एक नियंत्रक और निर्णायक सत्ता, जो उस भय का विश्लेषण करने जा रहा है जिसका सृजन इसने स्वयं किया है। किसी भी स्थिति में विश्लेषण समय लेगा ही; और विश्लेषण की इस प्रक्रिया के आरम्भ और अन्त के बीच जो अन्तराल है उसमें ऐसी कई अन्य बातें पैदा हो सकती हैं जो विश्लेषण

को एक भिन्न दिशा दे दे। तो आपको इस सचाई को देखना होगा कि भय के निराकरण के लिए विश्लेषण सही मार्ग नहीं हैं, क्योंकि आपके भीतर जो सत्ता विश्लेषक बनी बैठी है वह स्वयं उन्हीं खण्डों में से एक खण्ड है जो 'मैं' अर्थात 'अहं' का निर्माण करते हैं—और यह सत्ता समय का ही परिणाम है; यह सत्ता संस्कारबद्ध है। विश्लेषण समय से बँधा है और इसलिए यह भय का अन्त नहीं कर पाता—इस तथ्य को देखने का अर्थ है, 'क्रमिक परिवर्तन' की पूरी धारणा को एक किनारे रख देना। परिवर्तन का यह सवाल स्वयं भय के प्रमुख कारणों में से एक है।

मेरे लिए, अर्थात् वक्ता के लिए, यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है, अतः वह तीव्रता से अनुभव करता है, गहनता से बोलता है; किन्तु वह कोई प्रचार-कार्य नहीं कर रहा है—उसके पास ऐसा कुछ नहीं है जिसमें आप योगदान दें, जिसमें आप विश्वास करें। आप सिर्फ इतना करें कि अपने भय का अवलोकन करें, उसके बारे में सीखें, और उससे मुक्त हो जायें।

तो विश्लेषण मार्ग नहीं है। यदि आप इस बात की सत्यता को देख रहे हैं, तो इसका अर्थ है कि अब आप इस ढंग से नहीं सोचते कि कोई विश्लेषक है जो विश्लेषण करने जा रहा है, जो मूल्यांकन करने और निर्णय देने जा रहा है। इस प्रकार अब आपका मन उस बोझ से मुक्त है जिसे विश्लेषण कहा जाता है, अतः यह सीधे और प्रत्यक्ष देखने में समर्थ है।

तो आप इस भय को कैसे देखेंगे ? आप इसके समस्त ढाँचे को, इसके समस्त अप्रकट हिस्सों को कैसे प्रकट करेंगे और जानेंगे ? क्या स्वप्न के माध्यम से ? जाग्रत अवस्था के दौरान जो गतिविधि होती है उसी का सातत्य है स्वप्न, नींद के दौरान। क्या ऐसा नहीं है ? आप स्वप्न में अवलोकन करते हैं कि वहाँ सदा क्रियाशीलता रहती है, स्वप्न में उसी तरह कुछ न कुछ होता रहता है जैसे जाग्रत अवस्था में—अतः यह सातत्य एक समग्र गति का ही हिस्सा है। अतः स्वप्नों का कोई मूल्य नहीं है। तो अब आप देख रहे हैं कि हम क्या कर रहे हैं; हम उन सभी चीजों को हटा रहे हैं जिनके आप अभ्यस्त हैं, जैसे—विश्लेषण, स्वप्न, इच्छाशक्ति, समय। और जब आप इन सभी को परे हटा देते हैं, तो मन असाधारण रूप से संवेदनशील हो जाता है—न केवल संवेदनशील बल्कि प्रज्ञावान् भी। अब इस संवेदनशीलता और प्रज्ञा के साथ हम भय को देखने जा रहे हैं। यदि आप सचमुच इसकी गहराई में जायें, तो आप समाज के उस समस्त ढाँचे से अपना मुँह मोड़ लेंगे जिसमें समय, विश्लेषण और इच्छाशक्ति कार्यरत हैं। भय क्या है ? यह कैसे उत्पन्न होता है ? भय का 'सम्बन्ध' सदा किसी न किसी चीज से होता है—अर्थात् अपने आपमें भय का कोई अस्तित्व नहीं है। कल कुछ घटित हुआ, जो भय उत्पन्न करता है; इस भय का 'सम्बन्ध' इस सम्भावना से है कि

कल जो घटित हुआ उसकी पुनरावृत्ति आनेवाले कल में हो सकती है—यह 'सम्बन्ध' सदा एक नियत विन्दु से ही जन्म लेता है। तो भय इसमें कैसे प्रवेश कर जाता है? कल मुझे पीड़ा की अनुभूति हुई, जिसकी स्मृति मेरे पास है, और मैं नहीं चाहता कि कल पुनः मुझे यह पीड़ा झेलनी पड़े। कल की पीड़ा के वारे में सोचना—यह सोचना, जो कल की पीड़ा की अनुभूति और इसकी स्मृति से उत्पन्न होता है—इस भय को प्रक्षेपित करता है कि कल पुनः यह पीड़ा उपस्थित हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचार ही भय उत्पन्न करता है। और विचार न केवल भय को जन्म देता है वल्कि सुख को भी जन्म देता है। भय को समझने के लिए आपको सुख को भी समझना ही पड़ेगा। ये दोनों परस्पर सम्वन्धित हैं—एक को समझे विना आप दूसरे को नहीं समझ सकते। इसका अर्थ है कि आप यह कदापि नहीं कह सकते कि मेरे पास केवल सुख होना चाहिए, भय नहीं होना चाहिए। वस्तुतः भय और सुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

कल जो सुख मिला था उसकी प्रतिमाएँ मन में निर्मित हो गयी हैं और इन प्रतिमाओं के कारण विचार जन्म लेता है—यही विचार कल्पना करने लगता है कि सम्भव है कि कल पुनः मुझे वह सुख न मिले। अतः हम देखते हैं कि विचार ही भय पैदा करता है। विचार सुख को जिलाये रखने की कोशिश करता है, और इसी कोशिश में भय को भी पोषण एवं संवर्द्धन मिल जाता है।

विश्लेषण की प्रक्रिया में विचार विश्लेषक वन वैठता है, यह भूलते हुए कि जिन चीजों का यह विश्लेषण करने जा रहा है वे भी विचार ही हैं। अर्थात् विश्लेषक और विश्लिष्ट उसी विचार के हिस्से हैं जो स्वयं को ही धोखा दे रहा है। यह सब करते हुए विचार अचेतन मन के भय की उपेक्षा कर देता है, अर्थात् यह उनकी जाँच-पड़ताल करने से इनकार कर देता है। भय से पलायन करने के लिए विचार समय का आविष्कार कर लेता है, और समय ही पुनः भय का जन्मदाता वन जाता है।

विचार सुख को पोषण और जीवन देता है—सुख जिसका आनन्द से कोई सम्वन्ध नहीं है। आनन्द विचार की उपज नहीं है। आनन्द सुख नहीं है। आप सुख पैदा कर सकते हैं, आप इसके वारे में अनन्त सोच-विचार कर सकते हैं। किन्तु आप आनन्द के वारे में सोच-विचार नहीं कर सकते। आप जिस क्षण आनन्द के वारे में सोच-विचार करते हैं कि यह समाप्त हो जाता है, यह एक ऐसी चीज वन जाता है जिससे आप सुख प्राप्त करने लगते हैं और इसलिए जिसके खोने का आपको भय होने लगता है।

विचार ही अकेलेपन का भी सृजन करता है, किन्तु यह अकेलेपन को पसन्द नहीं करता, इसलिए यह इससे पलायन करने के मार्गों का आविष्कार कर लेता है।

विभिन्न प्रकार के धार्मिक या सांस्कृतिक मनोरंजन के द्वारा तथा दूसरों पर अधिक से अधिक निर्भर होने की अपनी अनन्त कोशिश के द्वारा विचार वस्तुतः अकेलेपन से ही पलायन करने का प्रयास करता है।

आप अपने दैनिक जीवन में जिन तथ्यों का अवलोकन कर सकते हैं उनका जन्मदाता विचार ही है। यह बात वक्ता का एक आविष्कार या उसका एक विचित्र दर्शन (फिलासफि) और सिद्धान्त नहीं है। अतः आप क्या करेंगे ? विचार को मार डालना आपके वश में नहीं है। आप इसे नष्ट नहीं कर सकते, आप यह नहीं कह सकते, "मैं विचार को भूल जाऊँगा।" आप इसका प्रतिरोध नहीं कर सकते, यदि आप करते हैं तो फिर यह एक दूसरे विचार की ही क्रिया है।

विचार स्मृति की प्रतिक्रिया है। आप कार्यालय और घर जाते हैं, बातचीत करते हैं, अर्थात् आप अपने दैनिक जीवन में जो कार्य करते हैं उसके लिए स्मृति का होना आवश्यक है। स्मृति ही वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का भण्डार है। अतः आपको स्मृति की आवश्यकता है, और साथ ही साथ आप यह भी देखते हैं कि विचार के माध्यम से यही स्मृति भय को जिलाये रखने का काम करती है। विचार की शुद्धता और स्पष्टता से युक्त स्मृति की हमें आवश्यकता है, एक दिशा में—अर्थात् अपने दैनिक जीवन में तकनीकी कार्य करने के लिए, अपनी जीविका कमाने के लिए इत्यादि—किन्तु आप इस तथ्य को भी देख रहे हैं कि स्मृति ही भय को जन्म देती है। तो मन को क्या करना चाहिए ? आप इस प्रश्न का उत्तर कैसे देंगें ? आपने विश्लेषण, समय, पलायन, निर्भरता जैसे विभिन्न तथ्यों की विस्तारपूर्वक छानबीन की है, और आपने यह भी देखा है कि 'जो है' उससे दूर हटना ही भय है। इन सब का अवलोकन करने के बाद, इस सब की सत्यता को बिना किसी मत और निष्कर्ष के देखने के बाद—आप इस प्रश्न का उत्तर कैसे देंगे ? यह कैसे सम्भव है कि विचार कुशलतापूर्वक एवं विवेकपूर्वक कार्य करे, किन्तु यह एक खतरा न बन जाये—खतरा यानी यह भय को जन्म न दे।

मन की वह कौन सी दशा है जिसने इस सब बातों की छानबीन की है ? समझ की कौन सी दशा मन को उपलब्ध हो गयी है, जिसने उन सारे तथ्यों की जाँच-पड़ताल की है जिनका हमने उद्‌घाटन और अवलोकन किया तथा जिनकी हमने चर्चा की ? अर्थात् अब आपके मन की गुणवत्ता क्या है ? क्योंकि इसी गुणवत्ता पर निर्भर है आपका उत्तर। यदि आपने एक-एक कदम चलते हुए जाँच-पड़ताल की यह यात्रा वस्तुतः पूरी की है तथा हमने जो चर्चा की उसकी गहराई में आपने प्रवेश किया है, तो आप देखेंगे कि आपका मन असाधारण रूप से जीवंत, संवेदनशील और प्रज्ञावान हो गया है, क्योंकि जो बोझ यह ढोता चला आ रहा था उसे इसने उतार कर अलग रख दिया है। तो अब आप विचार की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया का अवलोकन कैसे कर रहे हैं ?

क्या अब भी आपका सोचना-विचारना एक केन्द्र से ही होता है—केन्द्र अर्थात् वह सत्ता जो नियन्त्रण और निर्णय करती है, जो निष्कर्ष निकालती है, जो मूल्यांकन करती है तथा जो निन्दा और समर्थन करती है ? तो क्या अब भी आप उसी केन्द्र से सोचते-विचारते हैं ? अथवा अब इस तरह का कोई केन्द्र नहीं है, फिर भी विचार अपनी जगह पर हैं ? क्या आप फर्क देख रहे हैं ?

"मैं" के रूप में विचार ने एक केन्द्र निर्मित कर रखा है—मैं अर्थात् मेरा मत और विचार, मेरा देश, मेरा ईश्वर, मेरा अनुभव, मेरा घर, मेरा फर्नीचर, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे—यह सब का सब 'मैं' है। 'मैं' के इसी केन्द्र से आपके सारे क्रिया-कलाप होते हैं। यह केन्द्र विभाजित करता है। स्पष्टतः यह केन्द्र और विभाजन ही द्वंद्व के कारण हैं। आपका मत, मेरा मत, आपका देश; मेरा देश—यह सारा का सारा विभाजन विचार द्वारा ही निर्मित हैं। इसी केन्द्र से आप अवलोकन करते हैं और इसी-लिए अभी भी आप भय में पड़े हुए हैं, क्योंकि इस केन्द्र ने स्वयं को उस चीज से पृथक् कर रखा है जिसे यह भय कहता है। यह केन्द्र कहता है, "मुझे भय से मुक्त होना ही चाहिए", "मुझे इसका विश्लेषण करना चाहिए", "मुझे इस पर काबू पाना चाहिए", "मुझे इसका प्रतिरोध करना चाहिए"—इस प्रकार यह केन्द्र भय को और भी सबल बना रहा है।

क्या मन केन्द्ररहित होकर भय को देख सकता है ? क्या आप भय को बिना कोई नाम देते हुए देख सकते हैं ? जिसी क्षण आप इसे 'भय' नाम देते हैं कि यह अतीत में जा चुका होता है। जिसी क्षण आप किसी चीज को एक नाम दे देते हैं कि आप उसे खण्डित कर देते हैं। जब भय आपके भीतर जगे उस समय क्या आप केन्द्र से मुक्त होकर इसका अवलोकन कर सकते हैं—बिना इसे कोई नाम देते हुए ? इसके लिए प्रचंड अनुशासन चाहिए। तब मन उस केन्द्र से मुक्त होकर देखने लगता है जिसका यह अब तक अभ्यस्त रहा है, और इस प्रकार प्रकट एवं अप्रकट दोनों तरह के भय का अन्त हो जाता है।

यदि इस संध्या को आपने इन बातों की सत्यता को नहीं देखा है, तो इसे एक समस्या की तरह घर मत ले जाइए, जिस पर आपको सोचना-विचारना है। सत्य तो ऐसी चीज है जिसका आपको तत्काल दर्शन करना चाहिए। किसी चीज को साफ-साफ और स्पष्टतापूर्वक देखने के लिए आपको तत्काल इस ओर अपना हृदय, अपना मन तथा अपना समस्त प्राण देना चाहिए।

प्रश्नकर्त्ता : **क्या आप यह कह रहे हैं कि भय से पलायन करने के बदले हमें भय को स्वीकार करना चाहिए ?**

कृष्णमूर्ति : नहीं, महाशय। किसी चीज को स्वीकार मत करें। आप भय को स्वीकार मत करें बल्कि इसे देखें। आपने भय को कभी नहीं देखा है, क्या आपने देखा है ? आपने कभी नहीं कहा है, "अच्छा तो मैं भयभीत हूँ, जरा देखूँ तो सही इसे।" बल्कि आप कहेंगे, "मैं भयभीत हूँ, इसलिए चलो रेडियो ही सुनता हूँ।" अथवा आप मन्दिर-गिरजाघर चले जायेंगे, एक पुस्तक लेकर पढ़ने बैठ जायेंगे या किसी विश्वास और आस्था की शरण में चले जायेंगे। अर्थात् आप किसी न किसी तरह इससे पलायन कर जायेंगे। भय को कभी नहीं देखने के कारण आपका इसके साथ कभी सीधा संपर्क और संवाद नहीं हुआ है। आपने कभी भय को नहीं देखा है—बिना इसे नाम देते हुए, बिना इससे भागे हुए, बिना इस पर काबू पाने की कोशिश करते हुए। आप भय से भागने के बदले इसके साथ ठहर जायें। यदि आप ऐसा करेंगे तो आप एक अद्भुत चीज को घटित होते हुए देखेंगे।

प्रश्नकर्त्ता : भय का साक्षात्कार करने के बाद क्या आप स्वयं भय हो सकते हैं?

कृष्णमूर्ति : आप स्वयं भय हैं—होने का सवाल नहीं है। आप भय हैं ही, सिर्फ विचार ने स्वयं को भय से अलग कर रखा है, क्योंकि यह नहीं जानता कि भय का क्या किया जाये। स्वयं को भय से पृथक् करने के बाद विचार उस भय का 'द्रष्टा' बन जाता है और तब यह या तो भय का प्रतिरोध करने लगता है या इससे पलायन करने लगता है। किन्तु वह 'द्रष्टा' जो भय का प्रतिरोध कर रहा है, वह स्वयं भय है।

प्रश्नकर्त्ता : आपके प्रवचनों को निजी रूप से टेप-रिकॉर्ड करने की अनुमति नहीं है, इसलिए लोग बहुत कुण्ठित अनुभव कर रहे हैं। क्या आप कृपया बता सकते हैं कि ऐसा नियम क्यों है ?

कृष्णमूर्ति : मैं आपको बताऊँगा—यह अत्यन्त सीधी-सी बात है। सर्वप्रथम, यदि आप प्रवचन के दौरान अपने टेप-रिकॉर्डर का प्रयोग करते हैं, तो आपके आसपास बैठे लोगों को इससे बाधा पहुँचती है। आप उस यन्त्र से खिलवाड़ करते हैं, और इस प्रकार शान्ति भंग होती है। दूसरी बात, अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है : जो कहा जा रहा है उसे प्रत्यक्ष रूप से अभी सुनना या इसे रिकॉर्ड करके घर ले जाना और फुर्सत के समय सुनना ? वक्ता बोल रहा है, और आप उसे अभी तथा यहीं सुन सकते हैं। समय को आप हस्तक्षेप करने मत दीजिये। इसके विपरीत, आपकी इच्छा है कि जो कहा जा रहा है उसे रिकॉर्ड करलें और घर ले जायें। वस्तुतः भय का अस्तित्व तो अभी है—वह अभी आपके हृदय और मन में मौजूद है।

प्रश्नकर्त्ता : यदि यह सच है तो फाउन्डेशन टेपों की बिक्री क्यों करता है?

कृष्णमूर्ति : जब तक आप यहाँ बैठे हैं तब तक जो कहा जा रहा है उसे सीधे और प्रत्यक्ष रूप से सुनना—क्या यही सबसे आवश्यक और महत्वपूर्ण चीज नहीं है ? आपने यहाँ तक आने का कष्ट किया है और वक्ता ने भी यहाँ तक आने का कष्ट उठाया है। हमलोग आपस में सम्वाद करने कीं कोशिश कर रहे हैं—तथा कुछ समझने की कोशिश कर रहे हैं, अभी—कल-परसों नहीं। और 'अभी' ही समझना सर्वाधिक महत्त्व की बात है, अतः आपको इस ओर अपना सम्पूर्ण ध्यान देना चाहिए। किन्तु यदि आप प्रवचन के अंशों को लिखने में लगे हैं, अथवा अपने टेप-रिकॉडर में व्यस्त हैं, तो आप अपना सम्पूर्ण ध्यान नहीं दे सकते।

सम्भव है कि आप सारी बातें तत्काल न समझ पाये, इसलिए शायद आप इन्हें पुनः सुनना चाहें। तो एक कैसेट खरीद लें, या एक किताब ही ले लें—नहीं तो कुछ मत खरीदें। शाम के इस एक घन्टे दस मिनट के दौरान जो भी बातें कही गयीं, उन सबको यदि आप अपने पूरे हृदय और मन से ग्रहण कर लें तथा इसे पूर्ण रूप से आत्मसात कर लें, तो झंझट ही खत्म हो जाती है। किन्तु दुर्भाग्यवश आपने ऐसा नहीं किया है। आपने इन चीजों को ओर पहले कभी ध्यान दिया ही नहीं। आप भय को स्वीकार करके इसके साथ जीते रहे हैं अब तक, इसलिए आपका भय आपकी आदत का रूप ले चुका है। वक्ता जो कुछ कह रहा है उसका अर्थ है इस सबको चकनाचूर कर देना। और वक्ता कह रहा है कि इसे आप अभी कीजिये—कल-परसों पर मत टालिये। हमारा मन भय के समग्र स्वरूप को तथा इसमें अंतर्निहित चीज को देखने का अभ्यस्त नहीं है। किन्तु यदि आप इसे तत्काल देख पायें, तो आप यहाँ से आनन्दित और आह्लादित मन के साथ लौटेंगे। किन्तु हममें से अधिकांश व्यक्ति ऐसा करने में असमर्थ हैं, और इसलिए टेप की यह झंझट है।

प्रश्नकर्त्ता : आप भय का अवलोकन करते हैं और स्वयं को भय से भागते हुए पाते हैं। आप क्या करेंगे ?

कृष्णमूर्ति : सर्वप्रथम आप भागने की क्रिया का प्रतिरोध न करें। भय का अवलोकन करने के लिए आपको ध्यान देना चाहिए, और ध्यान की इस स्थिति में आप निन्दा नहीं कर रहे हैं, निष्कर्ष नहीं निकाल रहे हैं, मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं, बल्कि सिर्फ अवलोकन कर रहे हैं। भय से आप तभी भागते हैं जब आपका ध्यान कहीं भटक जाता है, अर्थात् जब आप असावधान हो जाते हैं—अतः यह असावधानी की दशा है। तो असावधान ही हो जायें, परन्तु इसके प्रति सजग रहें कि आप असावधान हैं। असावधानी के प्रति सजगता ही सावधानी है। यदि आप अपनी असावधानी के प्रति सजग हैं, तो आप वस्तुतः सजग रहें, इस सम्बन्ध में आप कुछ करें नहीं—मात्र इस तथ्य के प्रति सजग रहें कि आप असावधान हैं। तब वह सजगता ही वस्तुतः सावधानी है। यह

अत्यन्त सीधी-सी बात है। एक बार आप इसे देख लें, तो आप द्वन्द्व को पूरी तरह दूर हटा देंगे। इस अवस्था में आप चुनाव रहित रूप से सजग होते हैं। चुनाव तभी पैदा होता है जब आप कहते हैं, "मैं सावधान था, लेकिन अब मैं सावधान नहीं हूँ, इसलिए मुझे सावधान हो जाना चाहिए।" सजग होने का अर्थ है बिना किसी चुनाव के सजग होना।

प्रश्नकर्त्ता : **जैसा कि आप कहते हैं, यदि भय और सुख परस्पर सम्बन्धित हैं, तो क्या कोई भय को अलग करके सिर्फ सुख का ही मजा ले सकता है ?**

कृष्णमूर्ति : अति सुन्दर ! आप मेरे सारे भय का हरण कर लीजिये ताकि मैं अपने सुखों का मजा ले सकूँ। सारे संसार में हर व्यक्ति यही तो चाहता है—भय से पलायन करना और सुख से चिपके रहना—धृष्टतापूर्वक या सूक्ष्म ढंग से। सुख—आप सिगरेट पीने में सुख अनुभव करते हैं, किन्तु आपके भीतर पीड़ा होती है क्योंकि यह बीमारी की संभावना पैदा कर रहा है। एक पुरुष या नारी के रूप में आपने कामवासना के तल पर एवं अन्य ढंगों से सुख और सांत्वना प्राप्त की है, किन्तु जब दूसरे का ध्यान कहीं और चला जाता है, तो आप कुंठा, क्रोध एवं ईर्ष्या से जलकर छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं।

सुख अनिवार्यतः अपने साथ दुःख लाता है। हमारा मतलब यह नहीं है कि हम सुख प्राप्त कर ही नहीं सकते। किन्तु आप सुख की पूरी संरचना और इसके पूरे ढाँचे को देख लें, फिर आप जानेंगे कि आनन्द, वास्तविक आनन्द-उपभोग और इसकी मुक्ति एवं इसके सौंदर्य का सुख से कोई सम्बन्ध नहीं है—और इसीलिए दुःख या भय से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि आप इस बात की सत्यता को देखते हैं, तो आप सुख को समझ जायेंगे एवं इसको इसका उचित स्थान दे देंगे।

सैन डिएगो स्टेट कॉलेज,
अप्रैल ६, १९७०



६

हिंसा

"जब तक किसी भी रूप में 'मैं' का अस्तित्व है—अत्यन्त स्थूल रूप में या अत्यन्त सूक्ष्म रूप में—तब तक हिंसा मौजूद रहेगी।"

आज सुबह हम क्या चर्चा करेंगे? चर्चा नहीं बल्कि हम इसे संवाद कहें। आरम्भ से ही हम इसे याद रखें कि धारणाएँ और मत हमें कहीं नहीं ले जायेंगे तथा बौद्धिक समझदारी का सहारा लेने का भी कोई विशेष अर्थ नहीं है, क्योंकि मतों और विचारों के विनिमय द्वारा सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। अतः यदि हमें किसी भी समस्या पर आपस में बातचीत करनी है, तो यह उस स्तर पर होनी चाहिए जो न तो बौद्धिक हो और न ही भावात्मक या भावनात्मक।

प्रश्नकर्त्ता : मैं समझता हूँ कि साम्यवाद के विरुद्ध जो युद्ध चल रहा है वह एक अर्थ में न्यायसंगत और उचित है। मैं आपके साथ बातचीत के द्वारा यह पता लगाना चाहता हूँ कि मैं ठीक हूँ या गलत। आपको यह जान लेना चाहिए कि मैं दस वर्षों तक साम्यवाद के अधीन रहा, मैं सोवियत रूस के एक नजरबन्दी शिविर में था, मैं एक साम्यवादी कारावास में भी था। वे केवल एक ही भाषा समझते हैं—वह है शक्ति की भाषा। अतः मेरा प्रश्न है : क्या यह युद्ध आत्मरक्षा है या नहीं?

कृष्णमूर्ति : मैं समझता हूँ कि युद्ध आरम्भ करनेवाला हर समूह सदा यही कहता है कि उसका युद्ध आत्मरक्षा के लिए है। युद्ध सदा से ही होते रहे हैं—आक्रमणात्मक या प्रतिरक्षात्मक। सदियों के दौरान ऐसे भी युद्ध हुए हैं जिन्हें एक राक्षसी खेल ही कहा जा सकता है। हम सभी तथाकथित शिक्षित एवं सुसंस्कृत लोग हैं, किन्तु दुर्भाग्य-वश हम जंगलियों की तरह मारकाट और हत्या पर उतर आते हैं। अतः क्या हम इस प्रश्न की छानबीन कर सकते हैं कि मनुष्य के भीतर यह गहरी हिंसा और आक्रामकता क्या चीज है?

ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने कहा है, "किसी भी परिस्थिति में हिंसा मत करो।" इसका अर्थ है, एक शांतिपूर्ण जीवन बिताना, भले ही आप अत्यन्त आक्रामक और हिंसक लोगों के बीच रह रहे हों। इसका अर्थ है, हिंसक, क्रूर एवं वहशी लोगों के बीच एक केन्द्रबिन्दु की तरह अचल-अडिग रहना। किन्तु मन स्वयं को अपनी संचित

हिंसा से मुक्त कैसे करेगा—संचित हिंसा अर्थात् आत्मरक्षात्मक एवं सुसंस्कृत हिंसा, आक्रमण की हिंसा, प्रतिस्पर्धा की हिंसा, एक बड़ा आदमी बनने की चेष्टा की हिंसा, किसी ढाँचे के अनुसार स्वयं को अनुशासित करने की हिंसा, अहिंसक बनने के उद्देश्य से स्वयं को क्रूरतापूर्वक सताने और दबाने की हिंसा—मन इन सब तरह की हिंसाओं से कैसे मुक्त होगा ?

विभिन्न प्रकार की अनेक हिंसाएँ हैं। क्या हम हर प्रकार की हिंसा की अलग-अलग जाँच-पड़ताल करेंगे या हम हिंसा के सम्पूर्ण ढाँचे को एक साथ लेंगे ? क्या हम हिंसा के केवल एक हिस्से को नहीं बल्कि इसके सम्पूर्ण विस्तारक्रम को देख सकते हैं ?

हिंसा का मूल स्रोत है 'मैं', अहं, यानी अहंकार, जो स्वयं को अनेक ढंग से व्यक्त करता है—विभाजन में, एक बड़ा आदमी बनने की कोशिश में—जो पुनः स्वयं को चेतन और अचेतन के रूप में विभाजित करता है, 'मैं' और 'मैं नहीं' के रूप में विभाजित करता है—'मैं' अर्थात् वह चीज जो स्वयं को एक परिवार, एक समुदाय इत्यादि के साथ जोड़ती है अथवा नहीं जोड़ती है। जैसे एक शान्त झील में पत्थर गिरने के बाद उसके चारों ओर वृत्ताकार में लहरें फैलने लगती हैं, उसी तरह इस 'मैं' रूपी केन्द्र से लहरें उठकर निरंतर चारों ओर फैल रही हैं। जब तक किसी भी रूप में 'मैं' का अस्तित्व है—अत्यन्त स्थूल रूप में या अत्यन्त सूक्ष्म रूप में—तब तक हिंसा मौजूद रहेगी।

आप प्रश्न कर सकते हैं, "हिंसा का मूल कारण क्या है ?" किन्तु कारण का पता लगाने की कोशिश का अनिवार्यतः अर्थ हिंसा से मुक्त हो जाना नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति जानना चाहता है कि वह क्रूर क्यों है, तो वह तत्काल कारण का पता नहीं लगा पाता। वह हफ्तों, महीनों, वर्षों तक कारण की खोज करता रहेगा या विशेषज्ञों ने हिंसा और आक्रामकता के विभिन्न कारणों की जो व्याख्याएँ दी है उन्हें वह पढ़ता रहेगा; परन्तु अन्त तक वह हिंसक ही बना रहेगा। तो क्या हम कार्य-कारण की खोज द्वारा ही हिंसा के प्रश्न की छानबीन करेंगे ? अथवा हम हिंसा को समग्र रूप में लेकर इसको देखेंगे ? हम देखते हैं कि कारण ही कार्य बन जाता है और कार्य ही कारण बन जाता है—कार्य और कारण एक दूसरे से सुस्पष्ट रूप से भिन्न नहीं हैं। ये एक श्रृंखला की तरह हैं, जिसमें कारण कार्य बन रहा है और कार्य कारण बन रहा है—हम अनिश्चित काल तक इस प्रक्रिया के साथ चलते जाते हैं। परन्तु यदि हम हिंसा की सम्पूर्ण समस्या को ही देख सकें, तो हम इतनी जीवंतता से इसे समझ जायेंगे कि इसका अन्त हो जायेगा।

हमने एक ऐसे समाज का निर्माण किया है जो हिंसक है, और मानव के रूप में हम भी हिंसक हैं। जिस संस्कृति और परिवेश में हम जीते है वह हमारे प्रयास, हमारे

संघर्ष, हमारी पीड़ा और हमारी भयानक क्रूरता की उपज है। अतः सवसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है : क्या अपने भीतर मौजूद इस भीषण हिंसा का अन्त करना सम्भव है ? यही असली प्रश्न है।

प्रश्नकर्ता : क्या हिंसा को रूपांतरित करना सम्भव है ?

कृष्णमूर्ति : हिंसा ऊर्जा का एक रूप है। जव ऊर्जा का उपयोग एक खास ढंग से होता है तो ऊर्जा आक्रमण का रूप ले लेती है। किन्तु हम तत्काल हिंसा को रूपांतरित या परिवर्तित करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं, वल्कि हम इसे इतनी पूर्णता से समझना चाहते हैं कि हम इससे मुक्त हो जायें, हमारा मन इससे परे चला जाय—इसका अतिक्रमण करते हुए, इसका रूपांतरण करते हुए या चाहे जिस तरह भी। क्या यह सम्भव नहीं है—यह सम्भव है—ये सम्भावनाएँ हैं आपके सामने। आप हिंसा के बारे में कैसे सोचते हैं ? आप हिंसा को कैसे देखते हैं ? आप इस प्रश्न को ध्यान से सुनें : आपको कैसे पता चलता है कि आप हिंसक हैं ? जब आप हिंसक होते हैं, तो क्या आपको इसका होश रहता है कि आप हिंसक हैं ? आप हिंसा को कैसे जानते हैं ? जानने की यह प्रक्रिया सचमुच जटिल है। जव मैं कहता हूँ कि मैं आपको जानता हूँ, तो इस 'जानने' का क्या अर्थ है ? कल या दस वर्ष पूर्व जव हम मिले थे, तव आप जैसे थे उसी रूप में मैं आपको जानता हूँ। किन्तु दस वर्ष पहले और आज के वीच में आप भी बदल गये हैं और मैं भी बदल गया हूँ—इसलिए वस्तुतः मैं आपको नहीं जानता। चूँकि मैं आपको अतीत की तरह ही जानता हूँ, इसलिए मैं कभी कह ही नहीं सकता कि मैं आपको जानता हूँ। कृपया इस सीधी-सी वात को पहले समझ लें। इसी प्रकार आप यह नहीं कह सकते कि मैं हिंसा को जानता हूँ। आप केवल इतना ही कह सकते हैं कि मैं हिंसक होता रहा हूँ, लेकिन मैं नहीं जानता कि हिंसा अभी क्या है। मैं आपसे कुछ कहता हूँ, जो आपकी स्नायुओं को उत्तेजित करता है और आप क्रोधित हो जाते हैं। एक क्षण वाद आप कहते हैं, "मैं क्रोधित हो गया था।" क्रोध के क्षण में आप इसे नहीं पहचानते, वाद में आप पहचानते हैं। आपको पहचान की इस प्रक्रिया की छानवीन करनी है। यदि आप इसे नहीं समझ पाते हैं, तो आप क्रोध का सामना नये ढंग से नहीं कर पायेंगे। मान लीजिये, मैं क्रोधित होता हूँ। परन्तु एक क्षण वाद मुझे क्रोधित होने का अनुभव होता है। इस अनुभव के कारण ही मैं क्रोध को पहचान पाता हूँ, और यह क्रिया घटित होती है क्रोध हो चुकने पर। तो पहचानने की इस घटना के कारण ही मैं क्रोध को क्रोध की तरह जान पाता हूँ। अर्थात् पहचानने की यह क्रिया प्रत्यक्ष यथार्थ के लिए एक आवरण बन जाती है और इसके कारण मैं सदा अतीत की भाषा में प्रत्यक्ष यथार्थ का अनुवाद करता हूँ।

तो प्रश्न यह है, क्या आप अतीत की भाषा में वर्तमान का अनुवाद किये वगैर अपनी प्रतिक्रिया को एक नये सिरे से तथा एक ताजा मन से देख सकते हैं ? आप मुझे

बेवकूफ कहते हैं और मेरा सारा खून खौल उठता है, तथा मैं बोल पड़ता हूँ, "और दूसरे बेवकूफ तुम हो।" मेरे भीतर भावनात्मक रूप से तथा आन्तरिक रूप से घटित हुआ? दरअसल मैंने अपने बारे में अपने मन में एक प्रतिमा बना रखी है, जिसे मैं वांछनीय, कुलीन एवं सार्थक समझता हूँ; और आप इस प्रतिमा का अनादर तथा अपमान कर रहे हैं। तो यह प्रतिमा ही उत्तर दे रही है—यह प्रतिमा जो पुरानी है। अतः अगला प्रश्न है: क्या यह सम्भव है कि 'पुराना' उत्तर न दे पाये? क्या इस 'पुराना' और नये यथार्थ के बीच एक अन्तराल आ सकता है? क्या यह 'पुराना' अनिश्चयी और संकोची हो सकता है ताकि यह नये को जन्म लेने का अवसर दे? मुझे लगता है कि यहीं पर हमारी सारी समस्या की जड़ केन्द्रित है।

प्रश्नकर्ता : **क्या आप यह कह रहे हैं कि समस्त हिंसा सिर्फ जो है और जो नहीं है के बीच विभाजित है?**

कृष्णमूर्ति : नहीं, महाशय! हम एक बार फिर से आरम्भ करें। हम हिंसक हैं। अस्तित्व के पूरे काल क्रम में मानव हिंसक रहा है, और आज भी है। एक मानव के रूप में मैं पता लगाना चाहता हूँ कि हिंसा का अतिक्रमण कैसे करूँ, हिंसा से परे कैसे जाऊँ। मुझे क्या करना चाहिए? मैं देख रहा हूँ कि हिंसा ने इस जगत में क्या किया है—कैसे इसने हर तरह के मानव सम्बन्धों को नष्ट किया है, कैसे इसने मनुष्य के भीतर गहरे दुःख, सन्ताप तथा घोर यन्त्रणा को जन्म दिया है—यह सब मैं देख रहा हूँ कि मैं सचमुच एक शान्तिपूर्ण जीवन बिताना चाहता हूँ, जिसमें गहन प्रेम की प्रचुरता हो तथा जिसमें समस्त हिंसा मिट गयी हो। अब मुझे क्या करना होगा? सर्वप्रथम मुझे इस बात का ख्याल रखना होगा कि मुझे हिंसा से पलायन नहीं करना है। मैं हिंसक हूँ—इस तथ्य से मुझे पलायन नहीं करना चाहिए। पलायन अर्थात् इसकी निन्दा करना, इसको उचित ठहराना या इसको 'हिंसा' नाम देना। यह नाम देना भी एक प्रकार की निन्दा ही है या इसके औचित्य का समर्थन करना है।

मुझे यह बात स्पष्टतः समझ लेनी है कि मन को हिंसा के तथ्य से अपना ध्यान नहीं हटाना चाहिए। हिंसा के कारणों की खोज करना, कारणों की व्याख्या करना, इस तथ्य को नाम देना कि मैं 'हिंसक' हूँ, इसको उचित ठहराना, इसकी निन्दा करना, इससे पिंड छुड़ाने की कोशिश करना—ये सब के सब हिंसा के तथ्य से ध्यान को हटाने के ही उपाय हैं। मन को इसकी स्पष्ट प्रतीति होनी चाहिए कि हिंसा के तथ्य से किसी प्रकार का पलायन नहीं हो रहा है, और न ही किसी ऐसी इच्छा का आरोपण हो रहा है कि मैं इस पर विजय पाकर ही रहूँगा। इच्छाशक्ति भी हिंसा का ही सारभूत तत्त्व है।

प्रश्नकर्ता : **हिंसा में व्यवस्था का पता लगाकर, क्या बुनियादी रूप से हम यह पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि हिंसा क्या है?**

कृष्णमूर्ति : नहीं, महाशय। हिंसा में व्यवस्था हो कैसे सकती है ?

हिंसा से किसी भी प्रकार का पलायन नहीं होना चाहिए—अर्थात् न इसका बौद्धिक या व्याख्यात्मक समर्थन और न ही इसकी निंदा। आप देखिए कि यह कितना कठिन है, क्योंकि मन पलायन करने में अत्यन्त तेज और चतुर है—क्योंकि मन नहीं जानता है कि अपनी हिंसात्मक वृत्ति के साथ क्या किया जाय। यह इससे निपटने में असमर्थ है—अथवा इसने स्वयं को असमर्थ मान लिया है—इसलिए यह पलायन कर जाता है। हिंसा के तथ्य से पलायन करने की, इससे दूर जाने की, इससे अपना ध्यान हटाने की या इसकी ओर आँख मूँद लेने की क्रियाएँ वस्तुतः हिंसा को जिलाये रखने की ही कोशिश है, हिंसा को जीवन और पोषण देने के ही प्रयास हैं। यदि आप इसे महसूस कर लें, तो आपके मन के सामने 'जो है', वही तथ्य रह जाता है, अन्य कुछ नहीं।

प्रश्नकर्ता : यदि आप इसे कोई नाम न दें, तो आप कैसे कह सकते हैं कि यह हिंसा ही है ?

कृष्णमूर्ति : जब आप इसे नाम देते हैं, तो आप नाम के सहारे इसे अतीत से जोड़ देते हैं, इसलिए तब आप इसे अतीत की आँखों से देखने लगते हैं—अर्थात् इसे देखने के लिए अब आपके पास ताजा दृष्टि नहीं रही। बस ! इस बात को समझ पा रहे हैं या नहीं ?

आप हिंसा को देखते हैं, और इसको उचित ठहराते हैं, यह कहते हुए, "इस विकराल समाज में जीने के लिए हिंसा आवश्यक है, हिंसा प्रकृति का अंग है, प्रकृति भी तो हत्या कर रही है।" अर्थात् आपका संस्कार ही है हिंसा को या तो समर्थन करते हुए देखना या निंदा और प्रतिरोध करते हुए देखना। जब आप हिंसा को देखते हैं तो आप इसका संबंध उन प्रतिमाओं से जोड़ देते हैं जो आप के पूर्वज्ञान से निर्मित हैं, इसलिए आप ताजा आँखों से इसे नहीं देख पाते। यदि आप अपने इस कृत्य के प्रति सजग और सचेत रहें, तभी आप हिंसा को ताजा और नयी आँखों से देख पायेंगे। इस प्रकार तब यह प्रश्न उठता है, इन प्रतिमाओं का निर्माण कैसे होता है, आखिर वह कौन सी प्रक्रिया है जो इन्हें निर्मित करती है ? मेरी पत्नी मुझे कहती है, "तुम एक मूर्ख हो।" यह सुनकर मैं जल-भुन जाता हूँ और यह मेरे मन पर एक चिह्न छोड़ जाता है। वह कुछ और कहती है, तथा वह भी मेरे मन पर एक चिह्न छोड़ जाता है। ये चिह्न ही प्रतिमाएँ बन जाते हैं और ये प्रतिमाएँ हमारी स्मृति के गर्भ में संचित हो जाती है। तो जब मेरी पत्नी मुझे मूर्ख कहे, यदि उसी क्षण मैं सजग हो जाऊँ और उसकी बातों की ओर ध्यान दूँ, तो मन पर कोई भी चिह्न या छाप नहीं छूटेगा—और संभव है कि मेरी पत्नी एक सही बात कह रही हो।

इस प्रकार हम देखते हैं : **होश और सजगता का अभाव ही, अर्थात् हमारी असावधानी ही प्रतिमाओं को जन्म देती है, तथा हमारी सावधानी हमारे मन को प्रतिमाओं से मुक्त कर देती है।** यह बिलकुल सीधी-सी बात है। इसी ढंग से, जब मैं क्रोधित हो जाता हूँ, उस समय यदि मैं पूर्णतः सावधान हो जाऊँ, तो उस क्षण क्रोध के वास्तविक अवलोकन में अतीत को हस्तक्षेप करने का मौका नहीं मिलेगा। अतीत का कोई भी हस्तक्षेप वस्तुतः असावधानी की दशा में ही होता है।

प्रश्नकर्ता : **क्या यह भी एक इच्छाशक्ति का ही कार्य नहीं है ?**

कृष्णमूर्ति : जैसा हमने पहले कहा, अपने सार रूप में इच्छाशक्ति भी हिंसा का ही एक रूप है। हम इसकी जाँच करें कि इच्छाशक्ति क्या है। इच्छाशक्ति का अर्थ है, जब आप कहते हैं, "मैं उसे करूँगा ही", "मुझे वह नहीं चाहिए", "मैं इसे करना चाहता हूँ।" अर्थात् आप किसी चीज की इच्छा कर रहे हैं, आप किसी चीज की माँग कर रहे हैं, और ये सब प्रतिरोध के ही रूप हैं। जब आप कहते हैं, "मैं उस चीज की इच्छा रखता हूँ", अर्थात् जब आपके पास प्रबल इक्छाशक्ति होती है तो यह प्रतिरोध का ही एक रूप है और प्रतिरोध हिंसा है।

प्रश्नकर्ता : **मैं आपकी यह बात समझता हूँ, जब आप कहते हैं : किसी समस्या के समाधान की खोज करना 'जो है' से पलायन करना है।**

कृष्णमूर्ति : मैं जानना चाहता हूँ कि 'जो है' को कैसे देखूँ।

अब हम यह पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि हिंसा का अतिक्रमण करना संभव है या नहीं। हम कह रहे थे, "हिंसा से पलायन न करें, हिंसा के मुख्य तथ्य से दूर न भागें। तब यह प्रश्न किया गया, "आप कैसे जानते हैं कि यह हिंसा ही है ?" किन्तु प्रश्न यह है : क्या आप इसका अनुभव तभी करते हैं, जब आप इसे उस हिंसा के रूप में पहचान लेते हैं जिससे आप पहले से अवगत हैं ? जब आप इसे बिना किसी निंदा या समर्थन के तथा बिना कोई नाम देते हुए—जो सभी वस्तुतः अतीत के ही संस्कार हैं—देखते हैं, तभी आप इसे ताजा ढंग से देख पाते हैं। तब क्या यह हिंसा है ? इस ढंग से देखना कठिनतम चीजों में से एक है, क्योंकि हमारे जीने की पूरी प्रक्रिया अतीत द्वारा संस्कारबद्ध है। क्या आप जानते हैं कि वर्तमान में जीने का क्या अर्थ है ?

प्रश्नकर्ता : **आप कहते हैं, " हिंसा से मुक्त हो जायें"—इसमें बहुत सारी चीजें समाविष्ट हैं। मुक्ति की सीमा कहाँ तक है ?**

कृष्णमूर्ति : आप मुक्ति की जाँच-पड़ताल करें। मुक्ति का क्या अर्थ है? आपके भीतर गहरे में क्रोध, कुठाएँ, प्रतिरोध आदि छिपे हुए हैं; मन को इन सबसे भी मुक्त होना चाहिए। क्या, नहीं होना चाहिए ? मैं पूछ रहा हूँ, क्या मन वर्तमान में मौजूद अपनी सक्रिय हिंसा से मुक्त हो सकता है ? मन के अचेतन की गहराई में

जो घृणा, कटुता, क्रोध आदि मौजूद हैं उनसे मन कैसे मुक्त हो सकता है ? यह कैसे सम्भव है ?

प्रश्नकर्ता : **यदि व्यक्ति अपने भीतर मौजूद इस हिंसा से मुक्त हो जाये, तो जब वह अपने बाहर हिंसा को देखेगा तो क्या वह खिन्न और उदास नहीं हो जायेगा ? उसे क्या करना होगा ?**

कृष्णमूर्ति : उसे जो करना होगा वह है—दूसरों को शिक्षा देना। दूसरों को शिक्षा देना जगत में उच्चतम पेशा और कार्य है—पैसे के लिए नहीं, बैंक में खाता बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि मात्र दूसरों को सिखाने के लिए, उनको बताने के लिए।

प्रश्नकर्ता : **इसका सबसे सरल और सुगम रास्ता क्या है ?**

कृष्णमूर्ति : सबसे सरल और सुगम रास्ता ?······(हँसी) ····एक सर्कस ! महाशय, आप दूसरों को सिखाते हैं और इस सिखाने के क्रम में आप खुद भी सीखते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले आप सीख लेते हैं, संग्रह कर लेते हैं और तब इसे बाँटते फिरते हैं। आप हिंसक हैं, जब आप स्वयं को समझते हैं, तो आप दूसरों को भी स्वयं को समझने में सहायता करते हैं, अतः सिखाना और सीखना एक ही प्रक्रिया है। पता नहीं, आप इसके सौन्दर्य को देख पा रहे हैं या नहीं !

तो हम आगे बढ़ें। क्या आप हृदय से यह जानना नहीं चाहते कि प्रेम क्या है ? क्या सहस्राब्दियों से मनुष्य यह पता लगाने के लिए आतुर नहीं रहा है कि शांति-पूर्वक कैसे जिऊँ, वास्तविक प्रेम और करुणा को परम प्रचुरता में कैसे उपलब्ध करूँ ? इन चीजों का आगमन तभी होता है जब 'मैं' के मिट जाने का यानी अहं के अनुपस्थित हो जाने का वास्तविक बोध हो। क्या, आप समझे ? हमारा कहना है : आप देखिये—अपने अकेलेपन, क्रोध या कटुता से बिना पलायन करते हुए इसे देखिये। इसको नाम देना भी इससे पलायन करना है, अतः इसे नाम नहीं दीजिये, सिर्फ देखिये। और तब यह देखिये—नाम न देते हुए—कि कटुता अभी भी शेष है क्या ?

प्रश्नकर्ता : **क्या आप समस्त हिंसा से छुटकारा पाने की वकालत करते हैं या कुछ हिंसा जीवन में स्वास्थ्यकर भी है ? मेरा मतलब शारीरिक हिंसा नहीं है, बल्कि कुंठा जैसी चीजों से पिंड छुड़ाने की कोशिश करना। क्या यह सहायक सिद्ध हो सकता है—कुंठाओं से बचने की कोशिश करना ?**

कृष्णमूर्ति : नहीं महोदया। उत्तर प्रश्न में ही है। हम कुंठित क्यों हैं ? क्या आपने स्वयं से कभी यह प्रश्न किया है कि आप कुंठित क्यों हो जाती हैं ? इसका उत्तर खोजने के लिए क्या आपने कभी यह पूछा है कि परितुष्टि क्या है ? आप परितुष्ट क्यों होना चाहती हैं ? क्या परितुष्टि जैसी कोई चीज होती है ? यह कौन है जो परितुष्ट हो जाता है ? क्या यह 'मैं' है ? 'मैं' जो हिंसक है, 'मैं' जो अपने को अलग करता

है, 'मैं' जो कहता है, ''मैं तुमसे बड़ा हूँ'', 'मैं' जो महत्वाकांक्षा, ख्याति या कुख्याति की खोज करता है? चूँकि यह उपलब्धि पाना चाहता है, इसलिए जब यह असफल हो जाता है, तो यह कुंठित हो जाता है, कटुता से भर जाता है। क्या आप देख रही हैं कि 'मैं' जैसी एक चीज है, जो स्वयं का विस्तार और फैलाव चाहती है, और जब इसे यह नहीं प्राप्त होता है, तो यह कुंठित अनुभव करती है तथा कटुता से भर जाती है। विस्तार और फैलाव पाने की चाह तथा कटुता—ये हिंसा हैं। जब आप इस बात की सत्यता को देख लेती हैं तो परितुष्टि की कोई भी चाह नहीं रह जाती, इसलिए कुंठा भी समाप्त हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : **पौधे और पशु, ये दोनों सजीव पदार्थ हैं; ये दोनों जिन्दा रहने की कोशिश करते हैं। खाने के लिए पशुओं की हत्या करना और खाने के लिए पौधों (शाक-सब्जी) की हत्या करना—क्या आप इन दोनों में भेद करते हैं? यदि हाँ, तो क्यों?**

कृष्णमूर्ति : मनुष्य को जीवित रहना है, अतः उपलब्ध पदार्थों में जो अल्पतम संवेदनशील है उसी की हत्या की जाय। मैंने अपने जीवन में कभी मांस नहीं खाया है, और मेरा मानना है कि कुछ वैज्ञानिक धीरे-धीरे इसी दृष्टिकोण वाले नतीजे पर पहुँच रहे हैं। यदि ऐसा होता है, तो सभी इसे स्वीकार कर लेंगे!

प्रश्नकर्ता : **मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ हर व्यक्ति अरस्तूवादी चिंतन का अभ्यस्त है, और आप गैर-अरस्तूवादी युक्तियों का प्रयोग कर रहे हैं; इनमें अन्तर इतना अधिक है कि मैं हैरान हूँ। इस स्थिति में हम अंतरंगतापूर्वक चर्चा कैसे कर सकते हैं?**

कृष्णमूर्ति : महाशय, यही तो कठिनाई है! आप एक खास तरह की भाषा या शब्दावली के अभ्यस्त हैं जिसका एक खास अर्थ है; और वक्ता के पास वैसा कोई खास दृष्टिकोण नहीं है। अतः हमारी चर्चा में यह कठिनाई है। हम इसकी जाँच-पड़ताल पहले कर चुके हैं। हमने कहा था कि शब्द ही वस्तु नहीं है, वर्णन स्वयं वर्णित चीज नहीं है, व्याख्या स्वयं व्याख्येय वस्तु नहीं है। किन्तु आप व्याख्या से ही चिपके रहते हैं, आप शब्द को ही पकड़े रहते हैं—और यही अड़चन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में हिंसा क्या है—हिंसा भय और सुख का हिस्सा है। उत्तेजना के लिए कितना प्रबल उत्साह है हमारे भीतर, हम यही चाहते हैं, और हम समाज को प्रोत्साहित करते हैं कि वह हमें यही प्रदान करें; और तब हम दोष भी मढ़ देते हैं समाज पर ही, जबकि इसके लिए उत्तरदायी हम स्वयं हैं। हम स्वयं से यह पूछ रहे हैं कि हिंसा की जो यह भयंकर ऊर्जा है, क्या इसका उपयोग भिन्न ढंग से हो सकता है। हिंसक होने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है—क्या इस

ऊर्जा को रूपान्तरित किया जा सकता है या इसे एक भिन्न दिशा में मोड़ा जा सकता है ? इस बात की सत्यता को देखने और समझने में ही यह ऊर्जा सर्वथा भिन्न रूप ले लेती है।

प्रश्नकर्ता : **क्या आप तब यह कह रहे हैं कि अहिंसा अपने आप में परम और पूर्ण है, तथा हिंसा एक सम्भावित भूल-चूक है।**

कृष्णमूर्ति : हाँ, आप उस ढंग से बात को रख सकते हैं।

हम यह कह रहे हैं कि हिंसा ऊर्जा का एक रूप है तथा प्रेम भी ऊर्जा का एक रूप है—वह प्रेम जिसमें ईर्ष्या, चिन्ता, भय, कटुता नहीं है तथा जिसमें वह यन्त्रणा या सन्ताप भी नहीं है जो तथाकथित प्रेम में होता है। अतः हिंसा ऊर्जा है तथा ईर्ष्या से घिरा सीमित प्रेम भी ऊर्जा का ही एक दूसरा रूप है—इन दोनों का अतिक्रमण करने का अर्थात् इन दोनों से परे चले जाने का अर्थ है उसी ऊर्जा को एक बिलकुल ही भिन्न दिशा या आयाम में मोड़ देना।

प्रश्नकर्ता : **ईर्ष्या युक्त प्रेम वस्तुतः हिंसा ही है।**

कृष्णमूर्ति : बिलकुल ठीक।

प्रश्नकर्ता : **अतः आपके पास दो ऊर्जाएँ हैं—हिंसा तथा प्रेम।**

कृष्णमूर्ति : महाशय, ऊर्जा तो एक ही है।

प्रश्नकर्ता : **हमें आत्मिक अनुभव कब होना चाहिए ?**

कृष्णमूर्ति : उसका हिंसा से क्या सम्बन्ध है ? आपको आत्मिक अनुभव कब होना चाहिए ? कभी नहीं ! क्या आपको पता भी है, आत्मिक अनुभव होने का क्या अर्थ है ? आत्मिक अनुभव अर्थात् अतीन्द्रिय दर्शन के अनुभव के लिए आपको असाधारण रूप से परिपक्व और संवेदनशील होना चाहिए एवं इसीलिए असाधारण रूप से प्रज्ञावान भी होना चाहिए। जब आप असाधारण रूप से प्रज्ञावान होते हैं तो आप आत्मिक अनुभव नहीं चाहते। (हँसी)

कृपया इस ओर अपने हृदय से ध्यान दीजिये : हिंसा द्वारा मानव एक दूसरे का नाश कर रहे हैं, पति पत्नी का नाश कर रहा है एवं पत्नी पति का नाश कर रही है। यद्यपि वे साथ सोते हैं, साथ चलते हैं, किन्तु उनमें से हर कोई अपनी ही चिन्ताओं और अपनी ही समस्याओं के साथ एक अलगाव में जीता है; और यह अलगाव हिंसा है। अब यदि आप इस सबको अपने सामने बिलकुल साफ-साफ देखते हैं—केवल सोचते नहीं बल्कि इसको देखते भी हैं—इसके खतरे को देखते हैं, तो आप इस सम्बन्ध में कुछ करेंगे। क्या, नहीं करेंगे ? जब आप कोई खतरनाक जानवर को देखते हैं, तो

आपकी क्रिया तत्काल होती है; वहाँ कोई हिचक या असमंजस नहीं होता, उस जानवर के एवं आपके बीच कोई बहस और विवाद नहीं होता—आपकी क्रिया तत्क्षण होती है, आप भाग जाते हैं या आप कुछ करते हैं। यहाँ हम बहस कर रहे हैं, क्योंकि आप हिंसा के भीषण खतरे को नहीं देखते।

यदि आप सचमुच अपने हृदय से हिंसा के स्वरूप को देखें, हिंसा के खतरे को देखें, तो आप तत्काल इससे मुक्त हो जायेंगे। अब यदि आप देखना ही नहीं चाहते, तो कोई आपको इसका खतरा बताये भी तो कैसे! न अरस्तूवादी भाषा आपकी कोई सहायता कर पायेगी और न ही गैर-अरस्तूवादी भाषा।

प्रश्नकर्ता : **दूसरे व्यक्तियों में जो हिंसा है उसका सामना हम कैसे करेंगे?**

कृष्णमूर्ति : यह तो वस्तुतः एक बिलकुल भिन्न समस्या है। क्या, नहीं है? मेरा पड़ोसी हिंसक है—मैं उसका सामना कैसे करूँगा? क्या अपना दूसरा गाल भी उसके सामने बढ़ा दूँगा? उसे तो बहुत खुशी होगी। मैं क्या करूँगा? यदि आपमें कोई हिंसा नहीं होती, यदि आप सचमुच अहिंसक होते, तो क्या आप यह प्रश्न पूछते? इस प्रश्न को ध्यान से सुनें। यदि आपके हृदय और मन में जरा भी हिंसा नहीं है, जरा भी घृणा और कटुता नहीं है, परितुष्ट और मुक्त होने की चाह नहीं है, तो क्या आप पूछेंगे कि अपने हिंसक पड़ोसी का सामना कैसे करूँ? या तब आपको पता होगा कि अपने पड़ोसी के साथ क्या किया जाय? आप जो करेंगे उसे दूसरे लोग हिंसा कह सकते हैं, लेकिन जरूरी नहीं कि आप हिंसक हों। जिस क्षण आपका पड़ोसी हिंसा का रास्ता अपनायेगा, उस क्षण आपको पता होगा कि स्थिति से कैसे निपटा जाय। किन्तु एक तीसरा आदमी जो यह सब देख रहा है, कह सकता है, "आप भी तो हिंसक हैं।" परन्तु आप जानते हैं कि आप हिंसक नहीं हैं।

अतः जो महत्त्वपूर्ण बात है वह है स्वयं आपका हिंसा से मुक्त होना; और इसका महत्व नहीं है कि दूसरे लोग आपको क्या कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : **क्या समस्त चीजों की एकता में विश्वास उतना ही मानवीय नहीं है जितना मानवीय समस्त चीजों की पृथक्ता में विश्वास है?**

कृष्णमूर्ति : आप किसी भी चीज में क्यों विश्वास करना चाहते हैं? आप समस्त मानव की एकता में क्यों विश्वास करना चाहते हैं? तथ्य तो यही है कि हम एक नहीं हैं; अतः आप ऐसी चीज में क्यों विश्वास करना चाहते हैं जो तथ्य है ही नहीं? विश्वास का यह सवाल अत्यन्त विकट है। जरा सोचिये, आपका अपना विश्वास है, दूसरे का अपना विश्वास है, और इसी विश्वास के लिए लोग लड़ रहे हैं एवं एक-दूसरे की हत्या कर रहे हैं।

आपके पास कोई भी विश्वास है ही क्यों ? क्या इसलिए कि आप भयभीत हैं ? नहीं ? क्या आप विश्वास करते हैं कि सूरज पूरब में उगता है ? यह तो प्रतिदिन की देखी हुई बात है, इसलिए आपको इसमें विश्वास नहीं करना पड़ता। विश्वास वस्तुतः विभाजन का एक रूप है, अतः यह एक प्रकार की हिंसा है। हिंसा से मुक्त हो जाने का अर्थ है उस प्रत्येक चीज से मुक्त हो जाना जिसे एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को सौंप रखा है, जैसे—विश्वास, धार्मिक मत, कर्मकाण्ड तथा इस तरह की मूढ़ताएँ : मेरा देश, तुम्हारा देश, मेरा ईश्वर, तुम्हारा ईश्वर, मेरा मत, तुम्हारा मत, मेरा आदर्श, तुम्हारा आदर्श। ये सब मनुष्य को विभाजित करने का काम करते हैं और इसलिए हिंसा को जन्म देते हैं। यद्यपि संगठित धर्मों ने मानव जाति की एकता का उपदेश दिया है, तथापि प्रत्येक धर्म यही सोचता है कि वह अन्य धर्मों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

प्रश्नकर्ता : **आप एकता के सम्बन्ध में जो कह रहे थे उसका मैंने यही अर्थ लगाया है कि जो लोग एकता का उपदेश देते हैं वे ही वस्तुतः विभाजन को बढ़ावा देते हैं।**

कृष्णमूर्ति : महाशय, बिलकुल ठीक।

प्रश्नकर्ता : **क्या जीने का उद्देश्य अस्तित्व को निबाहना मात्र है ?**

कृष्णमूर्ति : आप पूछ रहे हैं, "क्या यही जीने का उद्देश्य है ?" किन्तु जीने के लिए आप उद्देश्य या प्रयोजन क्यों चाहते हैं ? बस आप जियें। जीना ही जीने का उद्देश्य है, आप उद्देश्य क्यों चाहते हैं ? आप देख रहे हैं कि हर व्यक्ति का अपना उद्देश्य है, धार्मिक व्यक्ति का अपना उद्देश्य है, वैज्ञानिक का अपना उद्देश्य है, गृहस्थ का अपना उद्देश्य है, और ये सभी विभाजनात्मक हैं। उद्देश्यपूर्वक जीनेवाले व्यक्ति का जीवन हिंसा को जन्म दे रहा है। यह बात बिलकुल सीधी और साफ है।

सैन डिएगो स्टेट कॉलेज,
अप्रैल ८, १९७०



७

ध्यान

"यदि आपके पास यह अद्‍भुत चीज है, जो आपके जीवन में निरंतर कार्यरत है, तो यही सब कुछ है; तब आप ही गुरु हैं, शिष्य हैं, पड़ोसी हैं, बादलों का सौंदर्य हैं—आप यह सब कुछ हैं, और यही प्रेम है।"

ध्यान क्या है ? इससे पहले कि हम इस बिलकुल जटिल और पेचीदी समस्या को जाँच-पड़ताल आरंभ करें हमें यह साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि वह कौन सी चीज है जिसके पीछे हम पड़े है। हम सदा कोई चीज खोजते रहते हैं—धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्तियों में यह बात विशेष रूप से देखी जाती है। वैज्ञानिकों के लिए भी खोज ही सबसे बड़ा प्रश्न है। अतः खोज के इस प्रश्न को हमें निश्चित रूप से साफ-साफ समझ लेना चाहिए, और तब हमें यह छानबीन करनी चाहिए कि ध्यान क्या है, तथा आपको ध्यान करना ही क्यों चाहिए, इसका उपयोग क्या है एवं यह आपको कहाँ ले जाता है।

जब हम कोई चीज खोजते हैं—अर्थात् इसके पीछे भागते हैं, इसका पता लगाते हैं—तो क्या इसका यह मतलब नहीं है कि हम जिस चीज के पीछे पड़े हैं उसे हम लगभग पहले से ही जानते हैं ? यदि हम धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं, और हम कहते हैं कि हम सत्य की खोज कर रहे हैं, या हम परमात्मा की खोज कर रहे हैं, या हम एक पूर्ण जीवन की खोज कर रहे हैं, तो इसका अर्थ है कि पहले से ही हमारे मन में इन चीजों की एक प्रतिमा या धारणा है। किसी चीज को खोजने के बाद उसे पाने का अर्थ है कि हम पहले से ही जानते थे कि इसकी रूपरेखा, इसका रंग, इसका पदार्थ आदि क्या है। क्या 'खोजना' शब्द में यह बात निहित नहीं है कि हमने किसी चीज को खो दिया है, जिसका हम पता लगाने जा रहे हैं, और जब हम इसे प्राप्त कर लेंगे तो हम इसे पहचान सकेंगे ? इसका अर्थ है कि इस चीज को हम पहले से जानते हैं, और करना हमें केवल इतना है कि इसके पीछे पड़ना है तथा इसको खोज निकालना है।

ध्यान में हमें पहला बोध जिस बात का होता है वह यह है कि खोजने का कोई मूल्य नहीं है; क्योंकि प्रायः वही चीज आपकी खोज का विषय बन जाती है जिसकी आप इच्छा और कामना करते हैं। यदि आप दुःख, निराशा और अकेलेपन से पीड़ित हैं, तो आप आशा की खोज करेंगे, अकेलेपन से बचने का उपाय खोजेंगे; किसी ऐसी

चीज की खोज करेंगे जो आपको सँभाल सके और अवश्यंभावी रूप से आप इसे प्राप्त भी कर लेंगे ।

ध्यान के लिए आपको सर्वप्रथम इसकी नींव रखनी चाहिए, व्यवस्था की नींव, जिसका अर्थ सदाचार और सच्चाई है—जिसका अर्थ प्रतिष्ठा या सामाजिक नैतिकता नहीं है । सामाजिक नैतिकता विल्कुल ही नैतिकता नहीं है । जिस व्यवस्था की हम वात कर रहे हैं, यह अव्यवस्था को समझने से उत्पन्न होती है, और यह एक विलकुल ही भिन्न चीज है । जव तक द्वंद्व है तव तक वाह्य और आंतरिक रूप से अव्यवस्था का अस्तित्व भी रहेगा ।

अव्यवस्था को समझने से जो व्यवस्था जन्म लेती है वह किसी चीज की अनुकृति नहीं है और न ही वह किसी सत्ता पर या आपके किसी विशेष अनुभव पर आधारित है । निश्चय ही इस व्यवस्था का जन्म विना किसी नियंत्रण और चेष्टा के होना चाहिए—चेष्टा विकृति उत्पन्न करती है ।

विना किसी नियंत्रण के व्यवस्था को जन्म देना एक अत्यंत कठिन वात है । इसके लिए हमें समझना होगा कि अव्यवस्था क्या है और यह कैसे उत्पन्न होती है । वस्तुतः अव्यवस्था का अर्थ है वह द्वंद्व, जो हमारे भीतर है । इसका अवलोकन करना ही इसको समझने का सीधा उपाय है । आपको इस पर काबू पाना नहीं है और न ही इसका दमन करना है । आपको इसका अवलोकन करना है—ऐसा अवलोकन जिसमें कोई विकृति न हो तथा जिसमें कोई ऐसा मनोवेग कार्यरत न हो जो आपको वाध्य करता हो या दिशानिर्देश देता हो । इस ढंग से अवलोकन करना सचमुच ही एक दुष्कर कार्य है ।

नियंत्रण का अर्थ ही है किसी चीज का दमन करना, उसको अस्वीकृत या वहिष्कृत करना । नियंत्रण का अर्थ ही है 'नियंत्रक' और 'नियंत्रित' का विभाजन खड़ा करना—जिसमें द्वंद्व निहित है । जव कोई इसे समझ लेता है तो नियंत्रण और चुनाव का पूर्णतः अन्त हो जाता है । आपने अव तक जो कुछ भी सोचा-विचारा है उसके परिप्रेक्ष्य में यह सब बहुत कुछ कठिन लग सकता है और वहुत कुछ विरोधात्मक भी । सम्भवतः आप कहें : विना नियंत्रण के तथा विना इच्छाशक्ति की क्रिया के व्यवस्था कैसे आ सकती है ? किन्तु जैसा हमने कहा है, नियंत्रण का अर्थ ही है 'नियंत्रक' और 'नियंत्रित' जैसा एक विभाजन खड़ा करना; और इस विभाजन में द्वंद्व और विकृति हैं । जब आप इसे वस्तुतः समझ लेते हैं तो 'नियंत्रक' और नियंत्रित' जैसे विभाजन का अन्त हो जाता है, और केवल समझ शेष रह जाती है । जो वस्तुतः है, उसकी समझ उत्पन्न होने पर नियंत्रण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

यदि हमें इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल करनी है कि ध्यान क्या है, तो दो अत्यावश्यक चीजें पूर्णत समझ ली जानी चाहिए। पहली चीज यह कि खोजने का कोई अर्थ और मूल्य नहीं है, दूसरी चीज यह कि उस व्यवस्था का जन्म होना चाहिए जो अव्यवस्था की समझ है और अव्यवस्था का कारण हैं: नियंत्रण और इसमें निहित द्वंद्व, तथा वह विरोध और विसंगति जो द्रष्टा और दृश्य के बीच उत्पन्न होती है।

क्रोध से भरा हुआ एक व्यक्ति जब यह देख लेता है कि क्रोध से छुटकारा पाने की कोशिश का कोई मतलब नहीं है, तो उसके जीवन में पहली बार व्यवस्था का आगमन होता है। बिना इस समझ के संभवतः आप यह नहीं जान सकते कि ध्यान क्या है। ध्यान पर लिखी गयी पुस्तकें पढ़कर, या ध्यान की विधि और पद्धति सीखकर, या सामूहिक ध्यान करनेवालों की मंडली में सम्मिलित होकर स्वयं को ही धोखा देने की कोशिश न करें, क्योंकि यदि आपमें व्यवस्था अर्थात् सद्‌गुण का पदार्पण नहीं हुआ है, तो आपका मन विसंगति से भरी चेष्टा में ही जीता रहेगा। ऐसे मन को ध्यान के सम्पूर्ण निहितार्थ का बोध भला कैसे हो सकता है!

आपको अपने सम्पूर्ण अस्तित्व और प्राणों से प्रेम नाम की इस अद्‌भुत चीज का साक्षात्कार करना ही चाहिए—अतः आप भय से मुक्त हो जायें। हमारा तात्पर्य उस प्रेम से हैं जो सुख, इच्छा और ईर्ष्या से अछूता है—अर्थात् वह प्रेम जो कोई भी प्रतिस्पर्धा नहीं जानता, वह प्रेम जो 'मेरा प्रेम' और 'तुम्हारा प्रेम' जैसा विभाजन नहीं करता। तब मन—जिसमें मस्तिष्क और भाव भी समाविष्ट हैं—पूर्ण संगति एवं समस्वरता में जीने लगता है; और ऐसा होना ही चाहिए अन्यथा ध्यान महज आत्मसम्मोहन बन जाता है।

आपको अत्यंत कठिन परिश्रम करना चाहिए ताकि आप पता लगा सकें कि आपके मन की गतिविधि क्या है, यह कैसे कार्य करता है तथा क्या हैं इसकी स्वकेन्द्रित क्रियाएँ—अर्थात् 'मैं' और 'मैं नहीं' का विभाजन। आपको स्वयं से पूर्ण परिचित होना चाहिए। वे दाँव-पेंच जिनका प्रयोग मन स्वयं के ऊपर करता है, वे मोह और भ्रांतियाँ जिनमें मन जीता हैं तथा इसके समस्त रोमानी खयालों की प्रतिमाएँ और कल्पनाएँ—इन सभी से आपको पूर्णपरिचित होना चाहिए। जो मन भावुकता में समर्थ है, वह प्रेम में समर्थ नहीं है। भावनाएँ वस्तुतः क्रूरता, निष्ठुरता और हिंसा को जन्म देती हैं, प्रेम को जन्म नहीं देतीं।

अपने भीतर गहराई में इसे स्थापित करना बिलकुल कठिन है; इसके लिए प्रचंड अनुशासन चाहिए—जिसका अर्थ है स्वयं के भीतर जो कुछ चल रहा है उसका अवलोकन करते हुए सीखना। यह अवलोकन सम्भव नहीं है, यदि आपके पास किसी प्रकार का पूर्वाग्रह, निष्कर्ष या नियम है जिसके अनुसार आप अवलोकन कर रहे हैं।

यदि आप किसी मनोवैज्ञानिक के सुझाव के अनुसार अवलोकन कर रहे हैं, तो आप वस्तुतः स्वयं का अवलोकन नहीं कर रहे हैं, इसलिए तब स्वयं के बारे में जानना घटित नहीं हो रहा है।

आपके पास ऐसा मन होना चाहिए जो पूर्णतः अकेले होने में समर्थ हो, तथा जो दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों और प्रचार से बोझिल न हो। बुद्धत्व का आगमन किसी नेता या गुरु द्वारा नहीं होता; आपके भीतर जो कुछ है उसकी समझ द्वारा ही इसका आगमन होता है। अतः स्वयं से पलायन करने का प्रयास न करें। आपके मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में वस्तुतः जो कुछ भी घटित हो रहा है उसे मन को समझना होगा; उसके प्रति मन को सजग होना चाहिए—विना किसी विकृति और चुनाव के, विना किसी कटुता और अप्रसन्नता के, विना किसी व्याख्या या समर्थन के—इसे मात्र सजग होना चाहिए।

यह बुनियाद प्रसन्नतापूर्वक रखी जाती है, बाध्य होकर नहीं, बल्कि सहजता और आनन्द के साथ, विना कहीं पहुँचने की आशा लिये हुए। यदि आपके पास आशा है, तो आप निराशा से भागने की कोशिश कर रहे हैं! आपको निराशा को समझना है न कि आशा की खोज करनी है। 'जो है' उसकी समझ में न कोई निराशा निहित है और न कोई आशा निहित है।

क्या यह सब मानव मन से कुछ ज्यादा ही अपेक्षा करने जैसा है? जब तक आप असम्भव-सी लगने वाली किसी चीज की माँग नहीं करते तब तक आप 'संभव' की ही सीमा में कैद रहेंगे, तब तक आप 'संभव' के ही जाल में उलझे रहेंगे। इस जाल में उलझ जाना बहुत आसान है। आपको मन और हृदय की उच्चतम संभावना की माँग करनी है, अन्यथा आप 'संभव' की ही सुख-सुविधा में पड़े रहेंगे।

क्या यह सब हम मिलजुलकर एक साथ समझ रहे हैं? संभवत आप शाब्दिक रूप से समझ रहे हैं, किन्तु आप याद रखें कि शब्द ही वस्तु नहीं है। हमने जो कार्य किया है वह है वर्णन करना, और वर्णन स्वयं वर्णित वस्तु नहीं है। यदि आप वक्ता के साथ चल रहे हैं, तो आप एक ऐसी यात्रा कर रहे है जो सैद्धांतिक या वैचारिक नहीं है, बल्कि वस्तुतः यह अवलोकन की यात्रा है—इसमें आप अनुभव नहीं कर रहे है बल्कि अवलोन कर रहे हैं। अवलोकन और अनुभव में फर्क है।

अवलोकन और अनुभव में बहुत बड़ा फर्क है। वास्तविक अवलोकन में कोई अवलोकनकर्ता नहीं होता, केवल अवलोकन की क्रिया होती है। अवलोकन की इस क्रिया में कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो अवलोकन करती है तथा जो स्वयं को अवलोकित वस्तु से पृथक् समझती है। अवलोकन उस तरह की खोजबीन से पूर्णत भिन्न है जिसमें विश्लेषण निहित हैं। विश्लेषण में सदा कोई विश्लेषक होता है और कोई विश्लिष्ट

चीज होती है । खोजबीन में भी प्रायः एक ऐसी सत्ता होती है जो खोजबीन का कार्य करती है । अवलोकन में सीखने का एक सतत प्रवाह होता है—इस प्रकार के सीखने में आपको कुछ संग्रह करना नहीं पड़ता । आशा है कि आप इस फर्क को देख रहे हैं। दूसरे प्रकार का जो सीखना है उसमें आप ज्ञान का संग्रह करते हैं, और फिर उसी सगृहीत ज्ञान से सोचते-विचारते और कार्य करते हैं । आप किसी चीज की जाँच-पड़ताल विवेकपूर्वक तथा तर्कसंगत एवं बुद्धिसंगत ढंग से कर सकते हैं, किन्तु 'अवलोकन-कर्ता, के बिना अवलोकन करना एक विलकुल ही भिन्न चीज है ।

तब अनुभव का प्रश्न आता है । हम अनुभव क्यों चाहते हैं ? क्या आपने इस संबंध में कभी सोचा है ? हर समय हमें अनुभव होता रहता है, जिसका ज्ञान या तो हमें रहता है या हम इससे विलकुल वेखबर रहते हैं । हम अधिक से अधिक गहरा और विस्तीर्ण अनुभव चाहते हैं, ऐसा अनुभव जो रहस्यात्मक, गहन, भावातीत, धार्मिक और आध्यात्मिक हो । लेकिन सवाल यह है, हम ऐसा अनुभव आखिर क्यों चाहते हैं ? क्या इसीलिए तो नहीं क्योंकि हमारा जीवन अत्यन्त निकृष्ट, क्षुद्र; हीन और दयनीय है ? हम इस सबको भूल कर एक सर्वथा भिन्न आयाम में प्रवेश कर जाना चाहते हैं । किन्तु एक क्षुद्र, चिन्तित, भयभीत और समस्याग्रस्त मन स्वयं अपनी ही कल्पना और गतिविधि को छोड़कर किसी और चीज का अनुभव कैसे कर सकता है ? वृहत् अनुभव की यह माँग जीवन की वास्तविकता से एक तरह का पलायन है, और विडम्वना यह है कि जीवन की इसी वास्तविकता से गुजरकर जीवन की सवसे रहस्यमय चीज का साक्षात्कार किया जाता है । अनुभव में पहचान की प्रक्रिया निहित है । आप उसी चीज को पहचानते हैं जिसको आप पहले से ही जानते हैं । साधारणतया अतीत से ही अनुभव का जन्म होता है—अतः इसमें कुछ भी नया नहीं है । इस प्रकार अवलोकन और अनुभव में एक प्रत्यक्ष भिन्नता है ।

यदि ये सारी वातें—जो असाधारण रूप से सूक्ष्म हैं और जिनके लिए भीतर की एक परम सावधानी चाहिए—आपने समझ ली है, तो हम अपने मूल प्रश्न पर लौट सकते हैं : ध्यान क्या है ? ध्यान के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है, बहुत सारे ग्रन्थ लिखे गये हैं इस विषय पर, वड़े-बड़े योगी (पता नहीं, वे बड़े हैं भी या नहीं) आते हैं और वे आपको सिखाते हैं कि ध्यान कैसे करें । सारा एशिया ध्यान की चर्चा करता है, जो उनकी एक आदत है, जैसे ईश्वर या किसी और चीज में विश्वास करना एक आदत है । वे प्रतिदिन एक शांत कमरे में दस मिनट बैठकर ध्यान करते हैं, वे एक प्रतिमा पर मन को एकाग्र करने की कोशिश करते हैं—वह प्रतिमा स्वयं उनको रचित हो सकती है या वह एक किसी गुरू या प्रचार द्वारा प्रदत्त प्रतिमा हो सकती है । उन दस मिनट के दौरान वे मन को नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं; मन इधर-उधर भागना चाहता है

और वे इसके साथ लड़ते हैं—उनका यह खेल निरन्तर चलता रहता है और इसी को वे ध्यान कहते हैं।

यदि आप ध्यान के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं तो आपको यह पता लगाना होगा कि वस्तुतः यह क्या है, और सम्भव है कि यह आपको किसी चीज तक नहीं ले जाये, या सम्भव है कि यह आपको उस चीज तक ले जाये जो सब कुछ है। आपको स्वयं यह प्रश्न करना चाहिए, बिना किसी अपेक्षा और प्रत्याशा के।

मन, जो अनवरत प्रलाप करता रहता है, जो विचारों और धारणाओं को प्रक्षेपित करता है, जो सतत द्वंद्व, विसंगति और तुलना में जीता है—इस मन का अवलोकन करने के लिए वस्तुतः मुझे अत्यन्त शांत हो जाना चाहिए। आप यदि कुछ कह रहे हैं और उसे मैं सुनना चाहूँ, तो यह आवश्यक है कि मैं उस ओर ध्यान दूँ, मैं उस क्षण बकबक न करूँ, मैं उस क्षण किसी और चीज के बारे में न सोचूँ, आप जो कह रहे हैं उसकी तुलना मैं उससे न करूँ जो मैं पहले से जानता हूँ, अर्थात् मैं पूर्ण रूप से आपको सुनूँ, और यह तभी सम्भव है जब मेरा मन शांत, सावधान और मौन हो।

हिंसा के सम्पूर्ण ढाँचे को साफ-साफ देखना अत्यावश्यक है। हिंसा को देखने के क्रम में ही मन पूर्णतः स्थिर हो जाता है। आपको एक स्थिर मन का 'विकास' नहीं करना है। जो व्यक्ति एक स्थिर मन का विकास करने में लगा है वह समय के क्षेत्र में कार्यरत है और इसी क्षेत्र में वह अपनी उपलब्धि की आशा रखता है। यही हमारी कठिनाई है। ध्यान सिखानेवाले लोग कहते हैं, "अपने मन को नियंत्रित करो, अपने मन को पूर्णतः शांत कर लो।" आप इसे नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं और फलतः इससे लड़ते रहते हैं। इसे नियंत्रित करते हुए आप तीस-चालीस वर्ष बिता देते हैं। परन्तु जो मन अवलोकन कर रहा हैं, वह नियंत्रण नहीं करता और न ही सतत स्वयं के साथ लड़ता है।

देखने और सुनने की क्रिया ही सावधानी है; इसकी आपको साधना नहीं करनी है; यदि आप साधना करते हैं तो आप तत्काल असावधानी की अवस्था में आ जाते हैं। आप सावधान हैं और आप पाते हैं कि आपका मन भटककर दूर जा रहा है, तो इसे भटकने दीजिये, किन्तु आप जानिये कि मन असावधान है। इस असावधानी के प्रति यह सजगता ही सावधानी है। मन की इस असावधान दशा के साथ लड़िये मत, इस पर जबरदस्ती करने के लिए यह मत कहिये कि मैं सावधान हो कर ही रहूँगा। यह तो बचकाना बात होगा। बस आप जानिये कि आप असावधान हैं; इस तथ्य के प्रति चुनाव-रहित रूप से सजग रहिये कि आप असावधान हैं और हैं तो क्या हुआ, यानी इसके लिए चिंता मत कीजिये—एवं असावधानी की इस अवस्था में, असावधानी के इन क्षणों में यदि आप कुछ कर बैठें, तो उस क्रिया के प्रति सजग रहिये। क्या आप इसे समझ रहे

हैं ? यह बिलकुल सीधा और सरल है। यदि आप इसे करें, तो यह बात एकदम साफ हो जायेगी—स्वच्छ जल की तरह साफ।

मन का मौन अपने आपमें सौंदर्य है। किसी चिड़िया की चहचहाहट को सुनना, किसी मनुष्य की आवाज को सुनना, किसी धर्मप्रचारक या राजनीतिज्ञ की बातों को सुनना, अर्थात् प्रचार के समस्त शोरगुल को पूर्ण मौन के साथ सुनने का अर्थ है बहुत कुछ सुन पाना, बहुत कुछ देख पाना। यदि आपका शरीर भी पूर्णतः शांत और स्थिर नहीं है, तो ऐसा मौन सम्भव नहीं है। यह अवयव संस्थान और इसकी समस्त स्नायविक प्रतिक्रियाएँ—अंगों का चुलबुलापन, आँखों की चंचलता, उँगलियों की अनवरत गति—अर्थात् शरीर और इसकी समस्त अशांति एवं बेचैनी को पूर्णतः शांत होना चाहिए। क्या आपने कभी बिलकुल शांत और स्थिर बैठने की कोशिश की है, इस ढंग से कि आँखों की या शरीर के अन्य अंगों की एक भी हरकत या हलचल न हो ? दो मिनट इसे करें। इन दो मिनट में सारा कुछ प्रकट हो जाता है—यदि आप देखने की कला जानते हैं।

शरीर के शांत और स्थिर होने के कारण मस्तिष्क की ओर रक्त का प्रवाह अधिक हो जाता है। किन्तु जब आप झुककर या बेढंगा होकर बैठते हैं, तो मस्तिष्क की ओर रक्त का जाना बहुत कठिन हो जाता है। आपको यह सब अवश्य जानना चाहिए। किंतु ध्यान का दूसरा पहलू यह है कि आप कोई भी काम करते हुए ध्यान कर सकते हैं; जैसे जब आप बस में बैठे हों या गाड़ी चला रहे हों। यह भी कितना अद्भुत चीज है कि आप गाड़ी चलाते समय भी ध्यान कर सकते हैं—मेरा मतलब है कि उस समय आप सतर्क और सचेत हो सकते हैं। शरीर की एक अपनी प्रज्ञा होती है, जिसे विचार प्रायः नष्ट कर डालता है। विचार सुख की खोज करता है, और इस प्रकार यह हमें अतिभोग की ओर ले जाता है—यह अतिभोग जरूरत से ज्यादा खाने का हो या काम-वासना में लिप्त रहने का विचार शरीर को किसी काम को करने के लिए बाध्य करता है। यदि शरीर आलस्य का अनुभव कर रहा है, तो विचार शरीर को आलस्य छोड़ने के लिए बाध्य करता है, आलस्य पर काबू पाने के लिए विचार दवा खाने की सलाह देता है। इस ढंग से शरीर की जो जन्मजात सहज प्रज्ञा है वह नष्ट हो जाती है और शरीर असंवेदनशील हो जाता है। आपके पास बृहत् संवेदनशीलता होनी चाहिए, अतः आपको अपने खाने-पीने का निरीक्षण करना होगा कि आप क्या खाते-पीते हैं, तथा इस बात का भी निरीक्षण करना होगा कि जब आप ज्यादा खा लेते हैं तो क्या होता है। जब आपके पास परम संवेदनशीलता होती है, तो प्रज्ञा के साथ-साथ प्रेम का भी प्रादुर्भाव होता है—प्रेम तब आनंद है; प्रेम तब समयातीत है।

हममें से अधिकांश लोगों को कोई न कोई शारीरिक पीड़ा रहती है। प्रायः यह पीड़ा मन को आंदोलित एवं परेशान करती है, और मन कई दिनों तक या वर्षों

तक इस पर सोचता रहता है—"काश, यह पीड़ा मुझे नहीं होती; क्या मैं इससे कभी छुटकारा पा सकूँगा?" जब शरीर में कोई पीड़ा हो, तो आप उसका निरीक्षण करें, इसका अवलोकन करें, तथा विचार को हस्तक्षेप न करने दें।

मन—जिसमें मस्तिष्क और हृदय समाविष्ट हैं—को पूर्ण संगति में होना चाहिए। अब इस सबका क्या उद्देश्य है, इस तरह की संगति का और इस तरह के जीवन का क्या मतलब है; इस संसार में, जहाँ इतना अधिक दुःख है, इससे क्या लाभ होनेवाला है? यदि एक या दो व्यक्ति को यह आनंद और आह्लाद से भरा जीवन उपलब्ध हो भी जाये, तो इससे क्या लाभ है? यह प्रश्न पूछने से क्या लाभ है? यह लाभ की बात ही नहीं है। यदि आपके पास यह अद्‌भुत चीज है, जो आपके जीवन में निरंतर कार्यरत है, तो यह सब कुछ है; तब आप ही गुरु हैं, शिष्य हैं, पड़ोसी हैं, बादलों का सौंदर्य हैं—आप यह सब कुछ हैं, और यही प्रेम है।

ध्यान से सम्बन्धित एक और बात की चर्चा आवश्यक है। जाग्रत मन अर्थात् चेतन मन दिन के दौरान एक बँधी-बँधायी लीक पर कार्य करता रहता है। मन की ये सारी क्रियाएँ नींद के दौरान स्वप्न में भी चलती रहती हैं। नींद में किसी न किसी प्रकार की क्रिया या घटना होती रहती है, यानी कुछ न कुछ घटित होता रहता है—अतः आपकी निद्रावस्था भी आपकी जाग्रत अवस्था का ही विस्तार और सातत्य है। स्वप्नों को रहस्य का रूप देकर भानमती का पिटारा बना दिया गया है—पेशेवर मनो-विश्लेषकों का कहना है कि स्वप्नों की व्याख्या और इसका विश्लेषण किया जाना चाहिए, अतः वे इसका विश्लेषण किये चले जा रहे हैं। यदि आप दिन के दौरान अपने जीवन का निरीक्षण करें तो आप स्वप्नों का भी अत्यन्त सरलता से अवलोकन कर सकते हैं। फिर भी सवाल यह है कि स्वप्न होना ही क्यों चाहिए! यद्यपि मनो-वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि आप स्वप्न नहीं देखें, तो आप विक्षिप्त हो जायेंगे। किंतु यदि आप अपनी जाग्रत अवस्था का अवलोकन करें, अर्थात् भय, चिंता और अपराध भाव से प्रेरित अपनी स्वकेन्द्रित क्रियाओं के प्रति दिन भर सजग और सावधान रहें तो आप पायेंगे कि जब आप सोते हैं तो आपको स्वप्न नहीं आते। यदि आप स्वयं अपना निरीक्षण करते रहें तो आपको निरीक्षण के सौंदर्य का पता चलेगा—तब आप पायेंगे कि यह सतत निरीक्षण थकावट, ऊब और नीरसता पैदा नहीं करता। इस प्रकार यदि मन विचार की प्रत्येक गति का निरीक्षण करे, प्रत्येक शब्द के प्रति सावधान और होशपूर्ण रहे, तो आप देखेंगे कि यह सावधानी और होश नींद में भी मौजूद रहते है। और जिस ध्यान की हम यहाँ चर्चा कर रहें हैं; आप पायेंगे कि वह ध्यान तब न केवल असाधारण रूप से महत्वपूर्ण और सार्थक हो जाता है बल्कि प्रसाद, गरिमा और सौंदर्य से भी भर जाता है। वह सावधानी और होश, जो सोते-जगते हर समय कायम रहता है, उसे जब आप समझ लेंगे कि वह क्या चीज है, तो आपका

समग्र मन जाग्रत हो जायगा। इसके आगे जो अब शेष रह जाता है, उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता, उसकी कोई चर्चा नहीं कर सकता। अधिक से अधिक कोई इतना ही कर सकता है कि द्वार की ओर संकेत कर दे। और यदि आप उस ओर चलने को इच्छुक हैं, अर्थात यदि आप द्वार तक यात्रा करने को इच्छुक हैं, तो यह आपका काम है कि आप चलते हुए द्वार से बाहर निकल जायें। द्वार के बाहर जो चीज है उसका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह अकथनीय है—वह अकथनीय चाहे कुछ भी न हो या सब कुछ हो। यदि कोई व्यक्ति इस चीज का वर्णन करता है तो इसका अर्थ है कि वह उस चीज को जानता ही नहीं। जो कहता है कि मैं जानता हूं, वह वस्तुतः जानता नहीं है।

प्रश्नकर्ता : **शांति क्या है, मौन क्या है ? क्या यह शोर का अंत है ?**

कृष्णमूर्ति : ध्वनि एक अद्‌भुत चीज है। पता नहीं, आपने कभी किसी ध्वनि को सुनने की कोशिश की है या नहीं। मेरा मतलब किसी विशेष प्रिय या अप्रिय ध्वनि से नहीं है बल्कि सिर्फ ध्वनि से है, जिसे सुनने की आपने कभी कोशिश की हो। शून्य अवकाश में तैरती हुई ध्वनि के पास एक असाधारण प्रभाव होता है। क्या आपने कभी सिर के ऊपर से गुजरते हुए किसी जेट विमान की गहरी और कर्कश ध्वनि को बिना किसी प्रतिरोध के सुनने की कोशिश की है ? क्या आपने कभी यह ध्वनि सुनी है और इस ध्वनि के साथ यात्रा की है ? इस ध्वनि में एक प्रकार का अनुकम्पन और संदोलन होता है।

अब प्रश्न यह है : मौन क्या है ? आप जिसे मौन कहते हैं, क्या वह शोर के नियंत्रण और दमन द्वारा उत्पन्न अंतराल है ? मस्तिष्क सदा सक्रिय रहता है। यह सदा अपने शोरगुल के साथ ही विभिन्न प्रेरणा और प्रोत्साहन का उत्तर देता है। अतः आप मौन किसे कहेंगे ? क्या अब आप प्रश्न को समझ रहे हैं ? क्या स्वनिर्मित शोर की समाप्ति ही मौन है ? क्या विचार के अनवरत प्रलाप तथा विचार की शाब्दिक अभिव्यक्ति की समाप्ति ही मौन है ? जब विचार की शाब्दिक अभिव्यक्ति बंद हो जाती है और विचार ठहर जाता है, तब भी आप पायेंगे कि मस्तिष्क सक्रिय है। अतः क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मौन न केवल शोर का अंत है बल्कि समस्त गतिविधि की पूर्ण समाप्ति है ? आप इसकी छानबीन करें और इसका अवलोकन करें कि आपका मस्तिष्क, जो लाखों वर्ष के संस्कार का परिणाम है, किस प्रकार प्रत्येक प्रेरणा एवं प्रोत्साहन का तत्क्षण उत्तर दे रहा है। आप यह पता लगायें कि मस्तिष्क की कोशिकाएँ—जो अनवरत प्रलाप कर रही है, उत्तर दे रही हैं, अर्थात जो निरंतर सक्रिय हैं—शांत हो सकती हैं या नहीं।

क्या मन, मस्तिष्क और सम्पूर्ण अवयव संस्थान अर्थात् यह समग्र मनःशारीरिक सत्ता पूर्णतः शान्त हो सकती है—बाध्य होकर नहीं, जोर-जबरदस्ती के कारण नहीं,

और न ही इस लोभ के कारण कि यदि मैं पूर्णतः शान्त हो जाऊँ तो मुझे सबसे अद्‌भुत और विलक्षण अनुभव प्राप्त होगा ? आप इसकी जाँच-पड़ताल करें और यह पता लगायें कि आपका मौन महज एक तात्कालिक परिणाम है या इसका जन्म आपके द्वारा रखी गयी ध्यान की नींव पर हुआ है। यदि आपने वह नींव नहीं रखी है जो प्रेम है, जो सद्‌गुण है, जो सच्चाई है, जो सौन्दर्य है, जो आपके समस्त प्राणों की गहराई में मौजूद करुणा है—यदि आपने ऐसी नींव अभी नहीं रखी है, तो आपका मौन शोर का ही अन्त है।

अब प्रश्न है मादक द्रव्यों का। प्राचीन समय में, भारत में 'सोम' नाम की एक लता होती थी। इसके रस का पान करने पर लोगों को मन की एक शान्त अवस्था का अनुभव होता था। सोमरस विभिन्न प्रकार की भ्रांतिजनक अनुभूतियाँ उत्पन्न करता था। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी अनुभूतियाँ वस्तुतः संस्कारों के ही प्रभाव हैं। यदि आप ईश्वर में विश्वास करते हैं, तो आप ईश्वर की अनुभूति कर लेंगे; किन्तु यह विश्वास वस्तुतः भय और द्वंद्व के दुःख पर आधारित है। अर्थात् आपका ईश्वर आपके भय का ही परिणाम है। अतः ईश्वर की अलौकिक अनुभूति आपके मानसिक प्रक्षेपण और कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है। तो जैसा कि मैं कह रहा था, कालक्रम में सोमरस का रहस्य लुप्त हो गया और धीरे-धीरे उसका स्थान ले लिया गाँजा, भाँग, तम्बाकू, शराब इत्यादि ने। आधुनिक समय में बहुत सारी मादक औषधियाँ आविष्कृत कर ली गयी हैं, जैसे—एल० एस० डी०, हैशिश, मैरिह्वाना, हेरोइन इत्यादि। उपवास भी मादक प्रभाव उत्पन्न करता है। उपवास करने पर शरीर में कतिपय रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, जो खुलेपन और हल्केपन का अनुभव देती हैं, और इसमें आनन्द आता है।

यदि मादक द्रव्यों के बिना भी एक सुन्दर जीवन जिया जा सकता है, तो इनका सेवन क्यों किया जाय ? इनका सेवन करनेवालों का कहना है कि ये द्रव्य शरीर में कतिपय परिवर्तन लाते हैं। ऐसा अनुभव होता है कि एक प्रकार की जीवन्तता और ऊर्जा जग रही है, तथा द्रष्टा एवं दृश्य के बीच का अन्तराल विलुप्त हो गया। वस्तुएँ अत्यधिक साफ और स्पष्ट दिखायी देने लगती हैं। मादक औषधियों के सेवन करनेवाले एक व्यक्ति का कहना है कि जब उसे किसी संग्रहालय में जाना होता है, तो वह थोड़ी मादक औषधि खा लेता है, क्योंकि तब उसे रंग पहले से भी अधिक चमकते हुए मालूम पड़ते हैं। किन्तु यदि आप अपना पूरा ध्यान दें, अर्थात् यदि आप द्रष्टा और दृश्य के बीच के अन्तराल से मुक्त होकर अवलोकन करें, तो आप बिना किसी मादक औषधि के उन्हीं रंगों को उतनी ही चमक के साथ देख सकते हैं। और अन्तिम बात यह कि जब आप मादक औषधियों का सेवन करते हैं, तो आप उनपर निर्भर हो जाते हैं और देर-सबेर वे अपना भयानक प्रभाव दिखाना शुरू करते हैं।

उपवास या मादक द्रव्यों से लोग बृहत् अनुभव पाने की अपनी इच्छा को तृप्त करने की कोशिश करते हैं। लोगों को लगता है कि वे जो चीज पाना चाहते हैं वह उन्हें प्राप्त हो जायेगा। लोग जो चीज पाना चाहते हैं वह एक बेहद घटिया और सस्ती चीज है—कोई क्षुद्र और छोटी-मोटी अनुभूति। इसी को बढ़ा-चढ़ाकर एक असाधारण रूप दे दिया जाता है। अतः एक विवेकशील व्यक्ति—अर्थात् वह व्यक्ति जिसने इस सब का अवलोकन किया है—सभी उत्तेजक और उद्दीपक पदार्थों को एक किनारे रख देता है; वह स्वयं का अवलोकन करता है और स्वयं को जानने की कोशिश करता है। स्वयं को जानना ही प्रज्ञा का प्रारम्भ है और दुःख का अन्त है।

प्रश्नकर्ता : **क्या सही प्रकार के सम्बन्धों में हम सचमुच दूसरों की सहायता करते हैं? क्या उन्हें प्रेम करना पर्याप्त है?**

कृष्णमूर्ति : सम्बन्ध क्या है? सम्बन्ध से हमारा क्या तात्पर्य है? क्या किसी से हमारा सम्बन्ध है—क्रूरतापूर्ण सम्बन्धों को छोड़कर? 'सम्बन्ध' शब्द से हमारा क्या अभिप्राय है? जहाँ हममें से प्रत्येक व्यक्ति एक अलगाव का जीवन जी रहा हो, वहाँ क्या हमारे बीच सम्बन्ध हो सकता है? अलगाव का अर्थ है स्वकेन्द्रित क्रियाएँ। जब कोई व्यक्ति अपने भय में या अपनी ही समस्या, निराशा और आत्मपरितुष्टि की चाह में डूबा होता है, तो ये सब चीजें अलगाव पैदा करती हैं। किसी व्यक्ति का अपनी पत्नी से तथाकथित सम्बन्ध है; यह सम्बन्ध प्रतिमाओं पर आधारित है। वस्तुतः परस्पर सम्बन्ध इन प्रतिमाओं के बीच है, और इसी सम्बन्ध को प्रेम कहा जाता है। जब प्रतिमाओं का तथा अलगाव की इस पूरी प्रक्रिया का अन्त हो जाता है तभी सम्बन्ध का जन्म होता है। जब पति और पत्नी की, एक-दूसरे के लिए कोई महत्वाकांक्षा न हो तथा एक-दूसरे पर मालकियत या निर्भरता न हो, तभी उन दोनों के बीच सम्बन्ध सम्भव है।

यदि सचमुच आपमें प्रेम हो, तो आप नहीं पूछेंगे कि प्रेम सहायता करता है या नहीं। रास्ते के किनारे खिला एक फूल, जो सौन्दर्य और सुवास से भरा है, किसी राहगीर से नहीं कहता कि वह आकर इसके सौन्दर्य, इसकी सुकुमारता और इसकी क्षणभंगुरता का अवलोकन करे, इसकी सुगन्ध को अपनी साँसों में बसा ले और आनन्द-विभोर हो जाये। यह आपका काम है कि आप इसे देखें या न देखें। किन्तु जब आप कहते हैं कि मैं दूसरों की सहायता करना चाहता हूँ, तो भय और उपद्रव शुरू हो जाते हैं।

सैन डिएगो स्टेट कॉलेज,
अप्रैल ९, १९७०

ਖਣਡ ੩

८

नियंत्रण और व्यवस्था

"नियन्त्रण की प्रक्रिया ही अव्यवस्था पैदा करती है, ठीक उसी तरह जिस तरह इसका विपरीत—अर्थात् नियन्त्रण का अभाव—अव्यवस्था पैदा करता है।"

संसार में भयावह चीजें घटित हो रही हैं। यहाँ हिंसा, क्रूरता और अशान्ति पूरी तरह व्याप्त है। तो एक ऐसा संसार जहाँ इतना अधिक दुःख और इतनी अधिक निराशा है, वहाँ एक मानव के रूप में, कोई क्या कर सकता है? मनुष्य के भीतर भी निपट अशान्ति और द्वंद्व छाया हुआ है। एक मानव का इस भ्रष्ट समाज के साथ क्या सम्बन्ध है—वह समाज जिसके व्यक्ति ही भ्रष्ट हैं? विघटन के कगार पर खड़े इस भ्रष्ट समाज में रहते हुए भी जीने का वह कौन-सा ढंग है जिसमें व्यक्ति एक प्रकार की शान्ति और व्यवस्था का अनुभव कर सकता है? आपने अवश्य ही स्वयं से ये प्रश्न किये होंगे, और यदि आपने सही उत्तर पा लिया है—जो अत्यन्त कठिन है—तो शायद आप अपने जीवन में एक तरह की व्यवस्था ला सकते हैं।

यह संसार जो स्वयं को नष्ट कर रहा है, यह संसार जिसके ऊपर सदा युद्ध का खतरा मँडरा रहा है—ऐसे संसार में यदि कोई व्यक्ति एक व्यवस्थित, सन्तुलित, समग्र और विवेकपूर्ण जीवन बिता रहा है, तो उसका क्या मूल्य है? वैयक्तिक परिवर्तन का क्या मूल्य है? यह बात मानव अस्तित्व के समग्र समूह को कैसे प्रभावित करेगी? मैं समझता हूँ कि आपने निश्चय ही ये प्रश्न कभी न कभी किये हैं। परन्तु मुझे लगता है कि ये गलत प्रश्न हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति दूसरे की या समाज की भलाई के लिए सही ढंग से नहीं जीता है और सही ढंग से नहीं कार्य करता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति को अवश्य ही यह पता लगाना चाहिए कि व्यवस्था क्या है, ताकि वह सामाजिक, आर्थिक या किसी अन्य ढंग की परिस्थियों और संस्कृतियों पर निर्भर न रहे। यदि उसने स्वयं अपने लिए यह पता नहीं लगाया है कि व्यवस्था क्या है तथा द्वंद्व से मुक्त होकर जीने का ढंग क्या है, तो उसके जीवन का कोई अर्थ नहीं है तथा उसका जीवन तब बेकार चला जाता है। जिस जीवन को हम निरन्तर दुःख और द्वंद्व में गुजार रहे है उसका शायद ही कोई अर्थ है। इस तरह के जीवन की वस्तुतः कोई अर्थवत्ता नहीं है। थोड़ा रुपया-पैसा जमा कर लेना, प्रतिदिन ऑफिस जाना, संस्कारों से बोझिल रहना, दूसरे के शब्दों को दोहराना, मतान्धता और हठधर्मी

विश्वासों में जीना—इन समस्त गतिविधि का शायद ही कोई अर्थ है। चूँकि इसका कोई अर्थ नहीं है, इसलिए संसार भर में बुद्धिजीवी इसको एक अर्थ देने की कोशिश करते हैं। अध्यात्मवादी जीवन के प्रति एक खास तरह का दृष्टिकोण रखते हैं तथा भौतिकवादी एक दूसरी ही तरह का दृष्टिकोण रखते हैं, और इनके अपने-अपने सिद्धांत हैं, अपने-अपने दर्शन (फिलॉसफि) हैं।

अतः यह शाश्वत रूप से आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि कोई व्यक्ति जरा भी गंभीर है, तो वह जीवन की एक ऐसी शैली का पता लगाये, जिसमें उसके अस्तित्व के किसी भी तल पर किसी भी तरह का द्वंद्व न हो। यह पता लगाना कोई सैद्धांतिक मामला नहीं है बल्कि यह दैनिक जीवन का कार्य है, और इसके लिए आपको गंभीर होना होगा। यहाँ हम किसी दार्शनिक या धार्मिक मनोरंजन के लिए आयोजित की गयी सभा में नहीं बैठे हैं। यदि हम गंभीर हैं—और मुझे आशा है कि हम गंभीर हैं—तो हमें मिलजुलकर एक ऐसी जीवन शैली का पता लगाना चाहिए जो किसी सिद्धांत, विश्वास या नियम पर आधारित न हो। संवाद का अभिप्राय है साथ-साथ सहभागी होना, साथ-साथ सृजन करना, साथ-साथ कार्य करना—न कि मात्र ढेर सारे शब्दों और विचारों को सुन लेना। यहाँ हमारा विचारों और धारणाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह बात शुरू में ही साफ और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि हम गंभीरतापूर्वक अपने पूरे हृदय और मन से यह पता लगा रहे हैं कि मनुष्य के रूप में, हम अपने सारे सम्बन्धों में समस्त द्वंद्व का अंत करते हुए शांतिपूर्वक जी सकते हैं या नहीं।

यह पता लगाने के लिए हमें स्वयं को देखना चाहिए—किसी दार्शनिक या वैचारिक पद्धति विशेष के अनुसार नहीं और न ही किसी विशेष धार्मिक दृष्टिकोण से। मुझे लगता है कि आपको यह सब स्वयं से अलग कर देना होगा, ताकि आपका मन समाज के साथ, परिवार के साथ, पड़ोसी के साथ, अपने सम्बन्धों में स्वयं का अवलोकन करने के लिए स्वतंत्र और मुक्त हो। वस्तुतः जो घटित हो रहा है, उसके अवलोकन में ही उसके पार जाने की संभावना निहित है। मैं आशा करता हूँ कि इन वार्ताओं के दौरान यही हम करने जा रहे हैं।

हम किसी नये सिद्धांत या नये दर्शन (फिलॉसफि) की घोषणा नहीं कर रहे हैं और न ही हम कोई आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन कर रहे हैं। यहाँ न कोई शिक्षक है, न कोई गुरु है और न कोई मुक्तिदाता है, अर्थात् यहाँ किसी तरह की सत्ता का अस्तित्व नहीं है—सचमुच मेरा यही मंतव्य है—क्योंकि यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसे यदि आप समझना चाहते हैं, तो आपको ऊँच-नीच के दृष्टिकोण को तथा किसी भी प्रकार के सत्तावादी दृष्टिकोण को पूर्णतः एक ओर रख देना चाहिए, ताकि मन

अवलोकन करने के लिए स्वतंत्र और मुक्त हो। जो मन किसी पद्धति, किसी सिद्धांत, किसी मार्गदर्शक का अनुसरण कर रहा है या जो किसी तरह के विश्वास से बँधा है— वैसा मन अवलोकन करने में असमर्थ है। मन के पास अवलोकन करने की सामर्थ्य होनी ही चाहिए। यही हमारी कठिनाई होने जा रही है, क्योंकि इसमें से अधिकांश लोग अपने साथ ज्ञान का मृत बोझ ढो रहे हैं, वे सदा ज्ञान का भारी पत्थर अपने गले से लटकाये रहते हैं। ज्ञान उनकी आदत और उनका संस्कार बन गया है। गंभीर मन को अवलोकन करने के लिए मुक्त होना चाहिए, अर्थात् उसे ज्ञान, अनुभव और परंपरा —जो हमारी संचित स्मृति और हमारा अतीत हैं—के मृत बोझ से मुक्त होना चाहिए।

'जो है' उसको सही-सही देखने के लिए तथा 'जो है' उसकी समग्र अर्थवत्ता को देखने के लिए, मन को साफ, ताजा और अविभाजित होना चाहिए। और यह हमारी दूसरी समस्या होने जा रही है कि इस विभाजन से मुक्त होकर कैसे देखें— विभाजन जो 'मैं' और 'मैं नहीं' के बीच है तथा 'हम' और 'वे' के बीच हैं।

आप यहाँ वक्ता के शब्दों से स्वयं का अवलोकन और निरीक्षण कर रहे हैं। अतः प्रश्न यह है : आप अवलोकन कैसे करेंगे ? मुझे नहीं पता कि आपने इस प्रश्न की कभी छानबीन की है या नहीं। आप कैसे देखते-सुनते हैं और कैसे अवलोकन करते हैं—न केवल स्वयं को बल्कि आकाश को, पेड़ों को, पक्षियों को, अपने पड़ोसी को, किसी राजनीतिज्ञ को। आप दूसरे को कैसे सुनते हैं, उसका कैसे अवलोकन करते हैं, और आप स्वयं का कैसे अवलोकन करते हैं। इस अवलोकन की कुंजी जिस बात में निहित है वह है किसी भी चीज को विभाजन से मुक्त होकर देखना। क्या यह कभी हो सकता हैं ? हमारा संपूर्ण अस्तित्व खण्डों में बँटा है। हम अपने भीतर विभाजित हैं, हम अन्तर्विरोध से भरे हैं। यह एक वास्तविक तथ्य है कि हम खण्डों में ही जीते हैं। इन्हीं खंडों में से एक खंड सोचता है कि इसके पास अवलोकन करने की क्षमता है। यद्यपि अवलोकन करने वाली यह सत्ता बहुत सारे सम्बन्धों से जुड़कर बनी है तथापि यह अनेक खंडों में से एक खंड ही है। और वही एक खंड देखता है और कहता है, "मैं समझता और जानता हूँ कि सही क्रिया क्या है।"

हम टूटे हुए हैं, विसंगतियों से भरे हैं तथा खंडों में विभाजित हैं। इन विभिन्न खंडों के बीच द्वंद्व और संघर्ष चलता रहता है। यदि आपने अवलोकन किया है, तो आप इसे एक तथ्य के रूप में जानते हैं। और अब हम देख रहे हैं कि इस सम्बन्ध में कुछ किया नहीं जा सकता, इसमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इन खंडों को एक समग्र रूप कैसे दिया जा सकता है ? हम यह अनुभव करते हैं कि एक व्यवस्थित, संतुलित, स्वस्थ और समरस जीवन जीने के लिए 'तुम' और 'मैं' के बीच के विखंडन

और विभाजन का अन्त होना ही चाहिए। परंतु हम निष्कर्ष निकालते हैं कि यह संभव नहीं है—यह विखंडन और विभाजन 'जो है' का एक अभिशाप है, एक मृत वोझ है, जिसे हम ढोते चले जा रहे हैं। अतः हम सिद्धांतों का आविष्कार कर लेते हैं, हम किसी दैवी शक्ति की 'कृपा' की आशा करते हैं जो चमत्कारिक ढंग से आकर हमें उबारे और हमारा उद्धार करे। दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं होता। अथवा हम उच्चतर अहं अर्थात् आत्मा के अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं और एक भ्रांति में जीने लगते हैं। यह एक पलयायन का मार्ग बन जाता है।

चूंकि हम नहीं जानते कि इस विखण्डन को समाप्त कर इसे एक समग्रता का रूप कैसे दें, अत हम आसानी से पलायन करने को तैयार हो जाते हैं। यहाँ हम अखण्डता की बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि फिर इसका अर्थ यह हो जायेगा कि किसी को अखण्डता लानी पड़ेगी—अर्थात् एक खण्ड अन्य खण्डों को एक साथ इकट्ठा करेगा। आशा है कि आप इसकी जटिलता को देख रहे हैं—हम किस तरह चेतन या अचेतन रूप से अनेक खण्डों में विभाजित हैं। और हम इसका निराकरण करने की अनेक ढ़ंग से कोशिश करते हैं। फैशन का ढंग है, किसी मनोविश्लेषक से अपना मनोविश्लेषण करवाना, अथवा स्वयं ही अपना मनोविश्लेषण करना। कृपया इसे सावधानीपूर्वक समझिये, यहाँ दो चीजें हैं। एक है विश्लेषक तथा दूसरी है वह चीज, जिसका विश्लेषण करना है। हमने कभी यह शंका नहीं की है कि यह विश्लेषक कौन है। जाहिर है कि यह विश्लेषक भी अनेक खण्डों में से एक खण्ड ही हैं और यह अपने सम्पूर्ण ढाँचे का विश्लेषण करने चला है। किन्तु यह विश्लेषक स्वयं एक खण्ड होने के कारण संस्कारवद्ध है। इसके विश्लेषण में कई चीजें समाविष्ट हैं। सर्वप्रथम, प्रत्येक विश्लेषण पूर्ण होना चाहिए अन्यथा जब विश्लेषक अगली घटना या प्रतिक्रिया का विश्लेषण करने चलता है, तो पिछला अधूरा विश्लेषण एक बोझ बनकर उसके गले से लटक जाता है। अतः पिछले विश्लेषण की स्मृति उसके लिए एक बोझ है। विश्लेषण में समय भी निहित है। इतनी सारी प्रतिक्रियाएँ, स्मृतियाँ तथा सम्बन्ध-श्रृंखलाएँ हैं कि इसके विश्लेषण में आपका पूरा जीवन भी लग सकता है। जब तक आप पूर्णतः अपना विश्लेषण कर पायेंगे—यदि यह कभी संभव भी हो तो—तव तक आप कब्र में पांव लटका चुके होंगे।

यह धारणा भी हमारा एक संस्कार ही है कि हमें स्वयं का विश्लेषण करना चाहिए अर्थात् आत्मविश्लेषणपूर्वक स्वयं को देखना चाहिए। विश्लेषण की इस प्रक्रिया में सदा एक 'निर्णायक सत्ता' होती है जो विश्लेषण को आकार देती हैं, मार्गदर्शन देती है, इसका नियंत्रण करती हैं और इसलिए विश्लेषक एवं विश्लिष्ट वस्तु के बीच सदा द्वंद्व मौजूद रहता है। अतः आप इसे देखें और समझें—एक सिद्धांत के रूप में नहीं और न ही एक ऐसी चीज के रूप में जिसका आपको ज्ञान की तरह संग्रह करना है। ज्ञान अपनी

जगह पर एक अच्छी चीज है किन्तु उस समय नहीं, जब आप अपने अस्तित्व के सम्पूर्ण ढाँचे को समझने की कोशिश करते हैं। यदि आप स्वयं को समझने के एक साधन के रूप में, अपने संगृहीत ज्ञान का उपयोग विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा या सम्बन्ध-निर्माण की प्रक्रिया द्वारा करते हैं, तो सहज ही आपका स्वयं के बारे में सीखना बन्द हो जाता है। सीखने के लिए यह आवश्यक है कि 'निर्णायक सत्ता' अर्थात् द्रष्टा से मुक्त होकर अवलोकन करने की स्वतन्त्रता और सामर्थ्य हो।

हमारे भीतर दिन-रात यानी अंतहीन रूप से जो विश्लेषणात्मक प्रक्रिया चल रही है उसे हम वस्तुतः 'जो है' के रूप में देख सकते हैं! इसकी सत्यता को देखने पर अर्थात् इसकी व्यर्थता, इसके उपद्रव तथा इसमें निहित समय और ऊर्जा की बरबादी को देखने पर, विश्लेषण की पूरी प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। आशा है कि सुनने के साथ-साथ आप इसे कर भी रहे हैं। विश्लेषण में सम्बन्धों की एक अंतहीन श्रृंखला चलती रहती है, अतः आप स्वयं से कह उठते हैं, "मैं कभी रूपान्तरित नहीं हो सकता, यह द्वंद्व, दुःख और अशांति अवश्यंभावी है, यह जीवन का ढंग है।" अतः आप यांत्रिक, हिंसक, क्रूर और नासमझ बन जाते हैं! जब आप एक तथ्य के रूप में इसका अवलोकन करते हैं तो आप इसकी सत्यता को देखते हैं। इसका अर्थ है कि आप इस सत्यता को तभी देख सकते हैं जब आप उसे वस्तुतः देखें जो घटित हो रहा है—अर्थात् 'जो है' का अवलोकन। 'जो है' की निंदा न करें, इसकी बुद्धिसंगत व्याख्या न करें—मात्र इसका अवलोकन करें। और वास्तविक अवलोकन तभी सम्भव है जब अवलोकन में सम्बन्ध-श्रृंखलाएँ निर्मित न हो रही हों।

जब तक 'विश्लेषक' मौजूद है तब तक निर्णायक सत्ता भी कायम रहेगी, जो नियंत्रण की पूरी समस्या को जन्म देती है। मुझे पता नहीं कि आपने कभी यह महसूस किया है या नहीं कि जन्म से लेकर मृत्यु तक हम स्वयं का सदा नियंत्रण करते रहते हैं। अर्थात् जो 'चाहिए', जो 'नहीं चाहिए', जो 'होना चाहिए', जो 'कदापि नहीं होना चाहिए' इत्यादि की निरन्तर खींच-तान। नियंत्रण का निहितार्थ है नियमबद्धता, अनुकरण तथा किसी सिद्धांत या आदर्श विशेष का अनुसरण—जो अन्ततोगत्वा हमें प्रतिष्ठा जैसी भयानक चीज तक ले जाते हैं। आपको नियंत्रण करना ही क्यों चाहिए? इसका अर्थ यह नहीं कि आप अपना सारा नियंत्रण पूर्णतः खो दें। आपको यह समझना होगा कि नियंत्रण में कौन सी चीज निहित है। नियंत्रण की प्रक्रिया ही अव्यवस्था पैदा करती है, ठीक उसी तरह जिस तरह इसका विपरीत—अर्थात् नियंत्रण का अभाव—अव्यवस्था पैदा करता है।

अतः नियंत्रण में जो चीज निहित है उसे आपको देखना होगा, समझना होगा तथा उसकी छानबीन करनी होगी एवं उसकी सत्यता का पता लगाना होगा। तब आपके

जीवन में एक ऐसी व्यवस्था आयेगी जिसमें कोई भी नियंत्रण नहीं होगा। अव्यवस्था का आगमन उस असंगति और अन्तर्विरोध से होता है जिनका जन्मदाता वह 'द्रष्टा' है, वह 'विश्लेषक' है अर्थात् वह सत्ता है जिसने स्वयं को अन्य विभिन्न खण्डों से पृथक् कर रखा है, और इसे जो ठीक प्रतीत होता है उसे यह अन्य खण्डों पर आरोपित करने का प्रयास करता है।

अतः आपको इस विडम्बना और विसंगति को समझना होगा कि आपका स्वरूप और आपकी संरचना नियंत्रण द्वारा ही निर्धारित है। मुझे पता नहीं कि आपने स्वयं से कभी यह पूछा है या नहीं कि आप किसी चीज का नियंत्रण करते ही क्यों हैं। आप जरूर नियंत्रण करते हैं। क्या, नहीं करते ? क्यों करते हैं ? कौन सी चीज आपको नियंत्रण के लिए प्रेरित करती है ? इस अनुकरण और अनुसरण की प्रवृत्ति का मूल कारण क्या है ? स्पष्टतः इसके कारण हैं : आपके संस्कार, आपकी संस्कृति तथा आपके सामाजिक और धार्मिक आदेश, जैसे—"तुम्हें यह करना ही चाहिए" "तुम्हें वह कदापि नहीं करना चाहिए"। नियंत्रण में सदा इच्छाशक्ति ही कार्य करती है, जो एक प्रकार की तात्कालिक चाह और आकांक्षा है, और यही चीज नियंत्रण करती है तथा आकार एवं दिशानिर्देश देती है। कृपया सुनने के साथ-साथ इसका अवलोकन् भी करें; यदि आप वस्तुतः इसका अवलोकन करें, तो आप देखेंगे कि एक बिलकुल ही भिन्न चीज जन्म लेती है। हम अपना, तथा अपने क्रोध का, अपनी इच्छाओं का, अपनी भूख का, नियंत्रण करते हैं, क्योंकि ऐसा करना सदा निरापद है। नियंत्रण तथा इससे जुड़े दमन, द्वंद्व, संघर्ष एवं विसंगतियों में, बृहत् सुरक्षा मालूम पड़ती है, इनमें हमें एक बचाव का अनुभव होता है। और नियंत्रण हमें आश्वासन देता है कि हम कभी असफल नहीं होंगे। जहाँ 'नियंत्रक' और 'नियंत्रित' जैसा विभाजन है, वहाँ अच्छाई का अस्तित्व नहीं हो सकता। अच्छाई अलगाव में निहित नहीं है। सद्गुण का अर्थ है मन की वह अवस्था जिसमें कोई भी अलगाव नहीं है, इसलिए जिसमें नियंत्रण और इसका अन्तर्निहित विभाजन भी नहीं है। नियंत्रण में जो चीजें निहित हैं वे हैं, दमन, विसंगति, चेष्टा, सुरक्षा की माँग—और ये सभी अच्छाई, सौंदर्य और सद्गुण के नाम पर। किंतु ये सद्गुण का इनकार मात्र हैं, और इसलिए अव्यवस्था के कारण हैं।

अतः क्या आप उस विभाजन और विरोध से मुक्त होकर देख सकते हैं जो 'द्रष्टा' और दृश्य के बीच विद्यमान है; तथा क्या आप 'द्रष्टा' द्वारा अर्जित उस ज्ञान से मुक्त हो सकते हैं जो देखने की क्रिया में 'द्रष्टा' को 'दृश्य' से पृथक् कर देता है ? और यह 'द्रष्टा' ही अच्छाई का दुश्मन है—हालाँकि यह व्यवस्था लाना चाहता है तथा शान्तिपूर्वक जीने के लिए सदाचारपूर्ण व्यवहार को जन्म देने का प्रयास करता है। यह 'द्रष्टा'—जो स्वयं को 'दृश्य' से पृथक् कर लेता है—उन चीजों को जन्म देता है

जिनका अच्छाई से कोई सम्बन्ध नहीं है । क्या आप यह सब देख रहे हैं ? अथवा क्या आप शनिवार के इस अपराह्न का बेफिक्री से आनन्द ले रहे हैं ? इस सब को वस्तुतः देखने का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है कि मन अब विश्लेषण नहीं कर रहा है बल्कि यह वस्तुतः अवलोकन कर रहा है, यह प्रत्यक्ष एवं सीधे देख रहा है और उसी तरह कार्य भी कर रहा है । इसका अर्थ है एक ऐसा मन जिसमें कोई भी विभाजन नहीं है; यह एक समग्र और पूर्ण मन है—अर्थात् यह मन स्वस्थ, संतुलित और विवेकशील है । जो विक्षिप्त मन होता है उसे ही नियंत्रण करना पड़ता है । जब वह ऐसी जगह पहुँच जाता है जहाँ वह स्वयं को पूर्णतः नियंत्रित कर चुका होता है, तो वह पूर्णतः विक्षिप्त हो जाता है । ऐसा मन निष्क्रिय है, अतः मुक्त नहीं है ।

आप इसकी सचाई को देखें ! सत्य वह नहीं है 'जो है' । 'जो है' अर्थात् विभाजन—'श्वेत' और 'अश्वेत' के बीच, अरब और यहूदी के बीच—अर्थात् वह समस्त गड़बड़ी जो इस भयावह संसार में हो रही है । चूँकि मन ने स्वयं को विभाजित कर रखा है, अतः यह समग्र, स्वस्थ, संतुलित और पवित्र मन नहीं है । और मन के भीतर मौजूद इस विभाजन के कारण ही इतना अधिक भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, हिंसा और क्रूरता है । अतः अब प्रश्न यह है : क्या मन विभाजन से मुक्त होकर अवलोकन कर सकता है ? क्या मन अवलोकन की वह अवस्था उपलब्ध कर सकता है जिसमें 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है ? आप ज्ञान के बोझ से मुक्त होकर देखें—एक पेड़ को, एक बादल को, सुहानी वसन्त ऋतु के सौंदर्य को अथवा स्वयं को ही । आप स्वयं को देखें, और अवलोकन के उस क्षण में सीखें, बिना किसी ज्ञान का संग्रह करते हुए, ताकि मन अवलोकन करने के लिए हर समय स्वतंत्र और मुक्त रहे । जो मन युवा है वही सीखता है; ज्ञान से बोझिल मन कभी नहीं सीखता । सीखने का अर्थ है स्वयं का अवलोकन इस प्रकार करना कि उसमें कोई विभाजन न हो, कोई विश्लेषण न हो, 'द्रष्टा' की वह सत्ता न हो जो 'अच्छा' को 'बुरा' से पृथक् करती है तथा जो 'होना चाहिए' को जो 'नहीं होना चाहिए' से पृथक् करती है । यह अत्यंत महत्वपूर्ण चीज है, क्योंकि यदि आप इस ढंग से अवलोकन करें, तो मन देखेगा कि समस्त द्वंद्व का अन्त हो गया है । इसी में समग्र अच्छाई निहित है । केवल ऐसा मन सदाचारपूर्वक कार्य कर सकता है, और इसमें परम आनंद का बोध है—वह आनंद नहीं जो सुख की उत्तेजना है ।

पता नहीं, आप कोई प्रश्न करना चाहेंगे या नहीं ? आपको हर चीज पर प्रश्न करना चाहिए – अपने विश्वासों और आदर्शों पर, तथा अपने धर्मशास्त्रों, अपने सत्ताधिकारियों एवं अपने राजनीतिज्ञों पर । इसका अर्थ है कि आपके पास संशय और संदेह की एक गुणवत्ता होनी चाहिए । किन्तु यह संशय आपके वश में होना चाहिए,

अर्थात् जब आवश्यक हो तो आप इसे जाने दें, ताकि आपका मन उन्मुक्त होकर देख सके तथा तेज दौड़ सके। जब आप प्रश्न करें, तो यह आपकी कोई अपनी खास समस्या हो, न कि मनोरंजन के लिए लापरवाही से पूछा गया कोई सतही प्रश्न। अर्थात् प्रश्न स्वयं आपसे जुड़ा होना चाहिए। ऐसा होने पर आप सही प्रश्न रखेंगे, और जब यह सही प्रश्न होगा, तो आप सही उत्तर ही प्राप्त करेंगे, क्योंकि सही प्रश्न रखने की क्रिया ही, स्वयं में निहित उत्तर आपके समक्ष प्रकट कर देती है। अतः मैं कहना चाहूँगा कि आपको सही प्रश्न ही रखना चाहिए। सही प्रश्न रखने पर हम दोनों व्यक्ति उस समस्या में सम्मिलित हो सकते हैं, सहभागी हो सकते हैं। आपकी समस्या अन्य लोगों की समस्या में भिन्न नहीं है। सभी समस्याएँ परस्पर सम्बन्धित हैं, और यदि आप एक समस्या को पूर्णता से एवं समग्रता से समझ जायें, तो आप अन्य सभी समस्याओं को भी समझ जायेंगे। अतः यह अत्यावश्यक है कि आप सही प्रश्न करें। किन्तु यह यदि गलत प्रश्न भी है, तो गलत प्रश्न रखने में ही आप यह भी जान जायेंगे कि सही प्रश्न कब और कैसे करें। आप दोनों ही करें, और तब हम सदा मौलिक, वास्तविक और सच्चा प्रश्न ही रखा करेंगे।

प्रश्नकर्ता : **मानव अस्तित्व का आत्यंतिक कारण या उद्देश्य क्या है ?**

कृष्णमूर्ति : क्या आपको किसी उद्देश्य का पता है ? जिस ढंग से हम जी रहे हैं उसका कोई अर्थ या उद्देश्य नहीं है। हम उद्देश्यों का आविष्कार कर ले सकते हैं, जैसे पूर्णता और बुद्धत्व को उपलब्ध करना, संवेदनशीलता के उच्चतम शिखर पर पहुँचना। हम अनगिनत सिद्धांतों का आविष्कार कर लेते हैं, और उन्हीं सिद्धांतों में हम उलझ जाते हैं। इन सिद्धांतों को हम अपनी समस्या बना लेते हैं। हमारे दैनिक जीवन का न कोई अर्थ है। न कोई उद्देश्य है, सिवाय इसके कि थोड़ा-बहुत पैसा कमाना और एक मूर्खतापूर्ण जीवन बिताना। आप इस सब का अवलोकन सैद्धांतिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से अपने भीतर कर सकते हैं—स्वयं के भीतर चल रहा अनंत युद्ध, बुद्धत्व या किसी अन्य उद्देश्य की खोज करना, ध्यान की विधि और पद्धति सीखने के लिए संसार भर में घूमना अथवा भारत या जापान की यात्रा करना। आप हजार उद्देश्यों का आविष्कार कर ले सकते हैं, किन्तु आपको कहीं जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि सब कुछ आपके ही भीतर है। आपको न हिमालय जाना है और न ही किसी मठ, विहार या आश्रम में जाना है—ये सब एक तरह के वन्दी शिविर हैं। यदि आप देखना जानते हैं, तो आप पायेंगे कि जो 'सर्वोच्च' और 'अपरिमेय' है वह आपके ही भीतर विराजमान है। मेरा मतलब यह नहीं है कि आप आँख मूँदकर मान लें कि वह आपके भीतर है; इस तरह की नासमझी भरा धोखा हम स्वयं को ही देते हैं, जब हम कहते हैं—हम ईश्वर हैं, हम 'परम पूर्ण' हैं, या इसी तरह कि अन्य

बचकानी बातें। यद्यपि इस भ्रांति से ही यानी 'जो है' से तथा 'परिमेय' से आपको उस चीज का पता लगता है जो अपरिमेय है। किन्तु आपको शुरुआत स्वयं से ही करनी चाहिए, क्योंकि तभी आप अपने लिए पता लगा सकते हैं कि कैसे देखें, अर्थात् द्रष्टा भाव से मुक्त होकर कैसे अवलोकन करें।

प्रश्नकर्ता : **आप जिस विषय पर बोल रहे थे उस सन्दर्भ में क्या आप नियंत्रण और निग्रह की परिभाषा देंगे ?**

कृष्णमूर्ति : हमें नियंत्रण के पूरे आशय और अभिप्राय को समझना होगा, हमारा मन नियंत्रण करने के लिए किस प्रकार संस्कारित किया गया है—नियंत्रण अर्थात् दमन। नियंत्रण में न केवल एक नियंत्रक और एक निर्णायक सत्ता होती है बल्कि विभाजन और द्वंद्व भी होता है। नियंत्रण की क्रिया में रोकने, निग्रह करने एवं निरोध करने की क्रियाएँ भी निहित हैं। जब आप इस सबके प्रति सजग हो जाते हैं, तो मन अत्यंत संवेदनशील हो जाता है और इसीलिए मन अत्यधिक प्रज्ञावान् भी हो जाता है। हमने इस प्रज्ञा को नष्ट कर डाला है—यह प्रज्ञा जो हमारे शरीर अर्थात इस अवयव संस्थान में भी विद्यमान हैं। सुख के स्वाद और इसकी भूख द्वारा हमने इस प्रज्ञा को विकृत कर डाला है। सदियों के दौरान हमारी संस्कृति, हमारे भय और हमारे विश्वास ने ही हमारे मन को आकार और संस्कार दिया है एवं इसका निर्माण किया है। जब आप इसका स्पष्ट बोध कर लेंगे, सैद्धांतिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से, तथा जब आप इसके प्रति सजग हो जायेंगे, तब आप पायेंगे कि संवेदनशीलता वस्तुतः बिना किसी नियंत्रण, निग्रह, निरोध या दमन के, प्रज्ञापूर्वक कार्य कर रही है और उत्तर दे रही है। परन्तु आपको नियंत्रण के स्वरूप और इसकी संरचना को समझना होगा, जिसने आपके भीतर इतनी अव्यवस्था पैदा की है—और तब आप जानेंगे कि इच्छाशक्ति ही आपके अंतर्विरोध एवं आपकी असंगति का केन्द्र है तथा इसीलिए यह नियंत्रण का भी केन्द्र है। आप इसे देखें तथा अपने जीवन में इसका अवलोकन करें, और तब आप इस सबका तथा इससे भी अधिक चीजों की खोज कर पायेंगे। किन्तु जब आप खोज की गयी चीजों को ज्ञान का रूप देते हैं—ज्ञान जो कि एक मृत बोझ है—तो आप चूक जाते हैं। ज्ञान वस्तुतः सम्बन्धों की एक अनन्त श्रृंखला का ही संग्रह है। और सम्बन्धों की इसी जंजीर में यदि मन जकड़ा रहे तो परिवर्तन असम्भव है।

प्रश्नकर्ता : **क्या आप मुझे बता सकते हैं कि शरीर मन का अतिक्रमण कैसे कर सकता है, जिससे कि शरीर जमीन से ऊपर उठ जाये ?**

कृष्णमूर्ति : क्या सचमुच इसमें आपकी दिलचस्पी है ? मुझे पता नहीं कि आप जमीन से उपर क्यों उठना चाहते हैं। महाशय, आपने गौर किया होगा कि मन सदा

किसी रहस्यमय और गूढ़ चीज की खोज करता रहता है, जिसका पता स्वयं आपके सिवाय और कोई नहीं लगायेगा; यह आपको प्रतिष्ठा, अभिमान एवं महत्व का एक प्रबल बोध देता है, और आप एक 'रहस्यदर्शी' बन जाते हैं। परन्तु जब आप इस सम्पूर्ण जीवन को तथा इस संपूर्ण अस्तित्व को समझ जाते हैं, तभी वास्तविक रहस्य का आगमन होता है, तभी उस चीज का जन्म होता है जो परम पुनीत और पवित्र है। इसमें परम सौंदर्य और आनंद छिपा है। 'अपरिमेय' जैसी एक प्रचंड वस्तु होती है, परन्तु पहले आपको परिमेय वस्तुओं को समझना होगा। यह 'अपरिमेय' वस्तुतः 'परिमेय' का विपरीत नहीं है।

कुछ ऐसे फोटोग्राफ हैं जिनमें लोग जमीन से ऊपर उठे हुए दिखाई देते हैं। वक्ता ने भी इसे तथा इस तरह की अन्य बेकार चीजें देखी हैं। यदि जमीन से ऊपर उठने में वस्तुतः आपकी दिलचस्पी है—मुझे पता नहीं कि आपकी दिलचस्पी क्यों होनी चाहिए, किन्तु यदि आपकी दिलचस्पी है—तो आपके पास एक अत्यन्त संवेदनशील एवं अद्भुत शरीर होना चाहिए; आपको शराब इत्यादि नहीं पीना चाहिए, धुम्रपान नहीं करना चाहिए, मांस-मछली नहीं खानी चाहिए, और न ही मादक द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। आपके पास ऐसा शरीर होना चाहिए जो बिलकुल आनभ्य और लचीला हो, स्वस्थ हो, जिसके पास इसकी अपनी प्रज्ञा हो—शरीर पर मन द्वारा आरोपित प्रज्ञा नहीं। और जब आप इसका वास्तविक अनुभव कर लेंगे, तो आपको यह लग सकता है कि जमीन से ऊपर उठने का कोई मूल्य नहीं है, इसकी कोई सार्थकता नहीं है।

लंदन—
मई १६, १९७०

●

६

सत्य

"सत्य वह नहीं है 'जो है'; परन्तु 'जो है' की समझ सत्य की ओर द्वार खोल देती है।"

ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जिस सम्बन्ध में हमें चर्चा करनी चाहिए, जैसे—शिक्षा, स्वप्नों का महत्त्व, तथा यह प्रश्न कि इस यांत्रिक और अनुकरणशील संसार में जीते हुए, मन का मुक्त होना सम्भव है या नहीं। हम इस समस्या का सामना इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल द्वारा कर सकते हैं—क्या मन नियमबद्धता के समस्त भाव से मुक्त हो सकता है ? हमें अस्तित्व के केवल एक हिस्से की नहीं बल्कि इसकी सम्पूर्ण समस्या की ही छानबीन करनी होगी। चाहे यह जीविकोपार्जन की समस्या हो या जीवन की अन्य तकनीकी समस्याएँ, हमें न केवल इन पर विचार करना होगा बल्कि हमें इन प्रश्नों पर भी विचार करना होगा कि समाज को कैसे रूपान्तरित किया जा सकता है; क्या इसका रूपान्तरण प्रचलित क्रान्ति द्वारा सम्भव है, अथवा एक भिन्न तरह की आन्तरिक क्रान्ति सम्भव है जो अवश्यम्भावी रूप से एक भिन्न तरह के समाज को जन्म देगी ? मैं समझता हूँ कि हमें इस पर विचार करना चाहिए और तब हमें ध्यान के प्रश्न पर आना चाहिए। यदि आप मुझे क्षमा करें, तो मैं कहना चाहूँगा कि आपको यह पता ही नहीं है कि ध्यान में कौन-सी चीज निहित है। हममें से अधिकांश लोगों ने ध्यान के सम्बन्ध में पढ़ा है या किसी की बतायी हुई पद्धति के अनुसार ध्यान की साधना करने की कोशिश की है। किन्तु ध्यान के सम्बन्ध में वक्ता को जो कुछ कहना है वह उस सब का बिलकुल उलटा हो सकता है जो आप ध्यान के बारे में जानते हैं या जो साधना इसकी आपने की है तथा जो अनुभूति आपने प्राप्त की है। आप सत्य को खोजने का प्रयास नहीं कर सकते; अतः आपको खोजने के सम्पूर्ण आशय और अभिप्राय को समझना चाहिए। इस प्रकार यह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है। ध्यान के लिए वस्तुतः सर्वोच्च ढंग की संवेदनशीलता चाहिए तथा प्रचण्ड मौन की एक गुणवत्ता चाहिए—ऐसा मौन जो प्रेरित, अनुशासित या साधा हुआ नहीं हो। और यह तभी सम्भव है यदि हम मनोवैज्ञानिक रूप से समझ लें कि हम कैसे जियें, क्योंकि हमारा दैनिक जीवन द्वन्द्व, नियमबद्धता, नियन्त्रण, दमन और इन सबों के विरुद्ध विद्रोह की एक मिलीजुली श्रृंखला है।

एक बड़ा सवाल हमारे सामने यह है कि हम विना किसी प्रकार की हिंसा करते हुए यह जीवन कैसे जियें, क्योंकि बिना हिंसा को वस्तुतः समझे और इससे मुक्त हुए ध्यान सम्भव नहीं है। आप हिमालय चले जा सकते हैं, वहाँ सही ढंग से बैठना और साँस लेना सीखेंगे, थोड़ा हठयोग की साधना भी कर लेंगे, और आप सोचने लगेंगे कि मैंने ध्यान सीख लिया। परन्तु ये सब बचकाना बातें ही हैं। यह सब एक तरह का खेल है। ध्यान जैसी अद्‌भुत चीज का साक्षात्कार करने के लिए मन को हिंसा के समस्त भाव से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए। इसलिए यह सार्थक प्रतीत होता है कि हम सर्वप्रथम हिंसा की ही चर्चा करें और यह देखें कि मन इससे वस्तुतः मुक्त हो सकता है या नहीं—न कि हम ध्यान के नाम पर किसी रोमानी जड़ता और मूर्च्छा में चले जायें।

मनुष्य क्यों आक्रामक है—इस विषय पर न जाने कितनी पुस्तकें लिखी गयी हैं! विभिन्न विशेषज्ञ और मानवविज्ञानी अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या और इसका स्पष्टीकरण करते हैं, किन्तु घूम-फिरकर हम इसी तथ्य पर लौटते हैं कि मानव हिंसक है। हिंसा हमारे लिए शारीरिक कृत्य है—युद्ध में जाना और लोगों की हत्या करना। युद्ध को हमने अपने जीवन का ढंग बना लिया है। चूँकि हमने युद्ध को पूर्णतः स्वीकार कर लिया है, इसलिए हम इस सम्बन्ध में कुछ करने की आवश्यकता नहीं समझते। हम अपने जीवन में भले ही कुछ समय के लिए शान्तिवादी बन जायें, परन्तु मूलतः हम महत्त्वाकांक्षी और प्रतिस्पर्धात्मक व्यक्ति हैं। हम सदा किसी न किसी चीज के लिए जी-तोड़ प्रयास करते रहते हैं। इस तरह के प्रयास में न केवल द्वन्द्व निहित है बल्कि हिंसा भी निहित है। जहाँ किसी भी तरह की नियमबद्धता और विकृति है—चाहे-अनचाहे अथवा चेतन-अचेतन रूप से—वहाँ हिंसा होगी ही। किसी सिद्धान्त, आदर्श या ढाँचे के अनुसार स्वयं को अनुशासित करना एक तरह की हिंसा ही है। 'जो है' को वस्तुतः समझना और उसके पार चला जाना आवश्यक है—ऐसा न होने पर जो विकृति उत्पन्न होती है वह एक प्रकार की हिंसा है। अतः प्रश्न यह है—क्या बिना किसी द्वन्द्व और विरोध के स्वयं के भीतर हिंसा को समाप्त करना सम्भव है?

हम एक ऐसे समाज और एक ऐसी नैतिकता के अभ्यस्त हैं जो हिंसा पर आधारित है। हिंसा, अनुकरण और अनुसरण करने के लिए हमें बचपन से ही शिक्षित और संस्कारित किया जाता है—चेतन या अचेतन रूप से। और हम नहीं जानते कि इस जाल से बाहर कैसे आयें। ऐसा करना हमें असम्भव लगता है। हम प्रायः कहते हैं कि मनुष्य को हिंसक होना ही चाहिए, किन्तु हिंसा थोड़ी सावधानी और नरमी के साथ की जा सकती है। अतः हमें हिंसा के इस प्रश्न की छानबीन करनी चाहिए;

क्योंकि हिंसा और भय को समझे विना प्रेम कैसे सम्भव है ! क्या ऐसा मन विना किसी संघर्ष और प्रतिरोध के स्वयं को मुक्त कर सकता है, जिसने एक समाज, एक सिद्धान्त तथा एक सामाजिक नैतिकता का अनुसरण करना स्वीकार कर लिया है, तथा जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने या न करने के लिए धर्मों द्वारा संस्कारित किया गया है ? हिंसा सिर्फ और अधिक हिंसा पैदा करती है। प्रतिरोध केवल अनेक तरह की विकृतियों को जन्म देता है।

आप विना किसी पुस्तक को पढ़े या विना साधु-सन्तों और विद्वानों को सुने, अपने मन का अवलोकन कर सकते हैं। और वही स्वयं को जानने का आरम्भ है। आपको किसी मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषक के अनुसार स्वयं को नहीं जानना है, बल्कि स्वयं का अवलोकन करते हुए स्वयं को जानना है, तब आप देखेंगे कि आपका मन किस तरह संस्कारवद्ध है—राष्ट्रवाद, जातीय और वर्ग भिन्नताएँ आदि के संस्कार। यदि आप इनसे अवगत हैं तो आप इन संस्कारों के प्रति सजग और सचेत हो जायेंगे। ईश्वर, साम्यवाद तथा अन्य विचारधाराओं के नाम पर किये गये ये वृहत प्रचार, जिसने सदियों-सदियों के दौरान हमें अपने साँचे में ढाला है तथा अपने रंग में रँगा है—आप इन सबके प्रति सजग और सचेत हो जायेंगे। क्या इनके प्रति सजग होकर मन स्वयं को संस्कारमुक्त कर सकता है, अनुसरण के समस्त भाव से स्वयं को मुक्त कर सकता है, ताकि इसके पास स्वतन्त्रता और मुक्ति हो ?

यह कैसे किया जाएगा ? हमारा मन न केवल ऊपरी तौर पर वल्कि अत्यन्त गहरे में भी, संस्कारों के कारण विलकुल जड़ हो गया है—यह जानते हुए हम किस तरह इसके प्रति सजग हो सकते हैं ? किस तरह इस संस्कारवद्धता को तोड़ा जा सकता है और समाप्त किया जा सकता है ? यदि ऐसा करना सम्भव नहीं है तो हम अनंत काल तक अनुसरण में जीते चले जायेंगे, हमारे अनुसरण की वस्तु चाहे जो भी हो—नया ढाँचा, समाज की नयी संरचना, नये विश्वास, नये धार्मिक मत तथा नये प्रचार—किन्तु यह अनुसरण ही है। और यदि किसी तरह का सामाजिक परिवर्तन होना है तो एक भिन्न प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए, ताकि बच्चों को अनुसरण करने के लिए शिक्षित और संस्कारित न किया जाय।

अतः प्रश्न यह है : मन स्वयं को संस्कारवद्धता से कैसे मुक्त कर पायेगा ? मुझे पता नहीं कि आपने कभी इसकी कोशिश की है या नहीं, इसकी गहराई से जाँच पड़ताल की है या नहीं—न केवल चेतन मन के तल पर बल्कि चेतना के गहरे तलों पर भी। क्या इन दोनों के बीच वस्तुतः कोई विभाजन है ? अथवा एक ही गति है जिसके केवल उस सतही तल का हमें बोध है जिसे एक विशेष समाज या संस्कृति की माँगों के अनुरूप बनने के लिए शिक्षित किया गया है ?

जैसा हमने पिछले अवसर पर कहा, मैं पुनः दोहरा दूँ कि हम यहाँ केवल शब्दों को सुनने नहीं आये हैं, क्योंकि उसका कोई मूल्य नहीं है। जो कहा जा रहा है उसमें सम्मिलित और सहभागी होकर तथा उसके साथ-साथ कार्य करते हुए ही आप अपने लिए यह पता लगा सकते हैं कि बिना किसी अलगाव और विभाजन के इस सम्पूर्ण गति का अवलोकन कैसे करें। जहाँ किसी भी तरह का विभाजन है—जातीय, बौद्धिक, भावात्मक या विपरीतता का विभाजन, जैसे 'मैं' और 'मैं नहीं', उच्चतर अहं और निम्नतर अहं इत्यादि—वहाँ यह विभाजन अनिवार्यतः द्वंद्व पैदा करेगा। द्वंद्व वस्तुतः ऊर्जा का अपव्यय है, और हम जो कुछ चर्चा कर रहे हैं उसे समझने के लिए आपके पास वृहत् मात्रा में ऊर्जा होनी चाहिए।

संस्कारों से बोझिल यह मन 'द्रष्टा' और 'दृश्य' जैसे विभाजन से मुक्त होकर किस प्रकार स्वयं का अवलोकन कर सकता है? 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच जो अवकाश, दूरी एवं समय का अन्तराल है, वह एक विसंगति है तथा वही विभाजन का सारभूत तत्व है। अतः जब 'द्रष्टा' स्वयं को 'दृश्य' से पृथक् कर लेता है तो वह न केवल एक नियंत्रक और निर्णायक सत्ता की तरह कार्य करता है बल्कि द्वैत और द्वंद्व का सृजन भी करता है।

क्या आपका मन 'द्रष्टा' और 'दृश्य' जैसे विभाजन से मुक्त होकर स्वयं का अवलोकन कर सकता है? क्या आप समस्या को समझ रहे हैं? जब आप देखते हैं कि आप ईर्ष्या और द्वेष से भरे हैं—जो एक अत्यन्त सामान्य बात है—और इसके प्रति आप सजग होते हैं, तो वहाँ सदा एक 'द्रष्टा' उपस्थित हो जाता है जो कहता है, "मुझे ईर्ष्यालु नहीं होना चाहिए।" अथवा यह 'द्रष्टा' ईर्ष्यालु होने का एक कारण देता है अर्थात् इसका समर्थन करता है। क्या, ऐसा नहीं है? एक चीज है 'द्रष्टा', दूसरी चीज है 'दृश्य'। 'द्रष्टा' ईर्ष्या को स्वयं से पृथक् की एक वस्तु के रूप में देखता है जिसे वह नियंत्रित करने की कोशिश करता है तथा जिससे वह छुटकारा पाने का प्रयास करता है, अतः 'द्रष्टा' और 'दृश्य' वस्तु के बीच द्वंद्व और संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। 'द्रष्टा' उन्हीं खण्डों में से एक खण्ड है जो हम स्वयं हैं।

क्या हम एक दूसरे के साथ सम्वाद की स्थिति में हैं? सम्वाद से जो मेरा मतलब है क्या आप उसे समझ रहे हैं? सम्वाद का मतलब है, साथ-साथ सहभागी होना। सम्वाद का मतलब केवल शाब्दिक रूप से समझना या बौद्धिक रूप से किसी बात को देखना नहीं है। 'बौद्धिक समझ' जैसी कोई चीज होती ही नहीं, खासकर जब हम मानव की परम मौलिक समस्याओं की बात कर रहे हों।

जब आप इस सच्चाई को वस्तुतः समझ लेते हैं कि किसी भी प्रकार का विभाजन अनिवार्यतः द्वंद्व उत्पन्न करेगा, तो आप देखेंगे कि वह ऊर्जा का अपव्यय है और

इसलिए यह विकृति और हिंसा जैसी उन सभी चीजों का कारण है जो द्वंद्व और संघर्षों से पैदा होती हैं। जव आप वस्तुतः इसे समझ जाते हैं—शाब्दिक रूप से नहीं वल्कि वास्तविक रूप से—तव आप यह भी जान जाते हैं कि 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के वीच मौजूद अवकाश और समय के अन्तराल से मुक्त होकर कैसे अवलोकन करें। संस्कार-बद्धता, हिंसा, शोषण, क्रूरता तथा वे समस्त भयानक वातें जो संसार के भीतर और आपके भीतर घटित हो रही हैं—इन सवों का तव आप अवलोकन करते हैं। क्या आप सुनने के साथ-साथ इसे कर रहे हैं? 'द्रष्टा', विचारकर्ता, ज्ञान से भरी अतीत की सत्ता, तथा 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के वीच मौजूद अन्तराल—इन सवों से मुक्त होकर देखना और अवलोकन करना अत्यन्त कठिन चीज है। पेड़, वादल, वसन्त का सौंदर्य, नयी कोपलें—आप इनका अवलोकन करें और तव आप पायेंगे कि ऐसा करना कितनी असाधारण घटना है। परन्तु तव आप यह भी पायेंगे कि आपने पेड़ को पहले कभी देखा नहीं था—कभी नहीं।

जव भी आप किसी चीज का अवलोकन करते हैं तो उस चीज की एक प्रतिमा अवलोकन के दौरान आपके मन में बैठी रहती है। जव आप एक पेड़ को अथवा अपने पति या अपनी पत्नी को देखते हैं तो इनके वारे में आपका पूर्वसंचित ज्ञान इनकी एक प्रतिमा वनकर आपके देखने की क्रिया में मौजूद हो जाता है। आपका पति या आपकी पत्नी क्या हैं, इसकी एक प्रतिमा है आपके मन में, जो वीस, तीस या चालीस वर्षों से निर्मित है। अतः जव आप देखते हैं तो वस्तुतः एक प्रतिमा ही दूसरी प्रतिमा को देख रही है और इन प्रतिमाओं का एक आपसी सम्वन्ध है; अतः व्यक्तियों के वीच वास्तविक सम्वन्ध है ही नहीं। इस सीधी-सी वात को आप मान लें कि हम जीवन में लगभग प्रत्येक चीज को एक प्रतिमा, एक पूर्वाग्रह या एक पूर्वकल्पित विचार से ही देखते हैं। हम कभी भी ताजा आँखों से नहीं देखते। हमारा मन कदापि युवा नहीं है।

अतः हमें न केवल स्वयं का अवलोकन करना चाहिए वल्कि उन चीजों का भी अवलोकन करना चाहिए जो हमारे भीतर मौजूद हैं, जैसे—हिंसा, सुख की बृहत् खोज तथा इससे जुड़े भय और कुण्ठाएँ, अकेलेपन की यन्त्रणा, प्रेम का अभाव, निराशा इत्यादि। 'द्रष्टा' से मुक्त होकर स्वयं के सम्पूर्ण ढाँचे का अवलोकन करने के लिए—अर्थात् जिस रूप में यह है उसी रूप में इसे विना किसी विकृति, निष्कर्ष, निन्दा या तुलना के, देखने के लिए—सर्वोच्च ढंग का अनुशासन चाहिए। हम अनुशासन शब्द का प्रयोग अनुसरण या वाध्यता के अर्थ में नहीं कर रहे हैं—अर्थात् यह वह अनुशासन नहीं है जो पुरस्कार या दण्ड द्वारा लाया गया है। किसी भी चीज का अवलोकन करने के लिए—चाहे यह आपकी पत्नी हो, आपका पड़ोसी हो या वादल हो—आपके पास एक ऐसा मन होना चाहिए जो अत्यन्त संवेदनशील हो। और यह अवलोकन ही स्वयं

अपने अनुशासन को जन्म देता है, जो अनुसरण या बाध्यता नहीं है। अतः अनुशासन का जो उच्चतम रूप है, वह कोई अनुशासन नहीं है।

'द्रष्टा' और विभाजन से मुक्त होकर हिंसा का अवलोकन करने तथा संस्कार, विश्वास, मत और पूर्वाग्रह के ढाँचे को देखने का अर्थ है, उसे देखना जो आप हैं— अर्थात् 'जो है' को देखना। जब आप विभाजन की मौजूदगी में इसे देखते हैं तो आप कह उठते हैं, "इसे बदलना असम्भव है।" सहस्राब्दियों से मनुष्य इसी तरह जीता रहा है और आप भी इसी ढंग से जिये चले जा रहे हैं। तो जब आप परिवर्तन को असम्भव कहते हैं, तो यह आपको ऊर्जा से वंचित कर देता है। जो चीज उच्चतम रूप में सम्भव है, उसे जब आप देख लेते हैं तभी आपके पास भरपूर ऊर्जा होती है।

अतः आपको 'जो है' का अवलोकन करना है, बिना उसकी प्रतिमा निर्मित किये हुए। अर्थात् आप जो वस्तुतः हैं उसका आपको अवलोकन करना है। बिना यह कहते हुए कि यह सुन्दर है, यह कुरूप है। आप क्या हैं, यह आप साधारणतः तुलना द्वारा ही जानते हैं। आप कहते हैं कि अमुक व्यक्ति, जो अत्यन्त बुद्धिमान और जीवंत है, उसकी तुलना में मैं मंद और मूढ़ हूँ। क्या आपने स्वयं की तुलना किसी व्यक्ति या वस्तु से किये बिना कभी जीने की कोशिश की है? तब आप क्या रह जाते हैं? तब आप जो हैं, वही है 'जो है'। तब आप इसके पार जा सकते हैं और सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं! मन को संस्कारों से मुक्त करने का जहाँ तक प्रश्न है, वह इस बात में निहित है कि मन कैसे अवलोकन करता है।

प्रेम क्या है? मुझे पता नहीं कि आपने इस प्रश्न पर कभी विचार किया है या नहीं, इसकी जाँच-पड़ताल की है या नहीं या आप इस प्रश्न की गहराई में कभी गये हैं या नहीं। क्या प्रेम सुख है? क्या प्रेम इच्छा है? क्या प्रेम को विकसित किया जा सकता है? क्या प्रेम समाज द्वारा निर्मित एक प्रतिष्ठित चीज है? जैसा कि चारों ओर अवलोकन करने पर प्रेम प्रत्यक्षतः सुख ही प्रतीत होता है—न केवल कामवासना का सुख बल्कि नैतिक सुख, उपलब्धि और सफलता का सुख, एक बड़ा आदमी बनने का सुख एवं इससे जुड़ी अनुसरण और प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति—अतः क्या यह प्रेम है? एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति, यहाँ तक कि वह व्यक्ति भी जो कहता है कि मुझे सत्य को पाना ही चाहिए, तथा जो उस चीज की खोज करता है जिसे यह सत्य मानता है...क्या वह कभी जान सकता है कि प्रेम क्या है?

क्या इसकी छानबीन हमें प्रज्ञापूर्वक नहीं करनी चाहिए कि प्रेम क्या है? जो चीज प्रेम नहीं है उसे देखते हुए तथा उसका निषेध करते हुए हम 'विध्यात्मक' तक पहुँचेंगे। उस चीज को नकारना होगा जो प्रेम नहीं है। ईर्ष्या प्रेम नहीं है। कामवासना या अन्य प्रकार के सुख की स्मृति प्रेम नहीं है। सद्गुण को विकसित करने का

तथा महान बनने का निरन्तर प्रयास भी प्रेम नहीं है। और जब आप कहते हैं, "मैं तुमसे प्रेम करता हूँ" तो इसका क्या अर्थ है ? उसके बारे में निर्मित प्रतिमा, कामवासना का सुख, सांत्वना, संग-साथ, कभी अकेले न होना, अकेले होने से घबराना, सदा किसी के प्रेम का पात्र बने रहने की चाह, किसी की मालकियत के अधीन रहना, किसी पर मालकियत और प्रभुत्व जमाना, आग्रही और आक्रामक होना—क्या यह सब प्रेम है ? आप इसकी व्यर्थता को देखें, शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से। प्रेम से जुड़े सुख और कामुकता को भी आप देखें—हम कामवासना की निंदा नहीं कर रहे हैं, हम महज तथ्य का अवलोकन कर रहे हैं। वह समस्त बकवास जो प्रेम के सम्बन्ध में की जाती है—अपने देश के लिए प्रेम, ईश्वर के लिए प्रेम—यदि आप इस सबका वस्तुपरक ढंग से अवलोकन करें, तो आप पायेंगे कि ईश्वर के प्रति आपका प्रेम भय की ही उपज है, सप्ताह में एक दिन आपका धार्मिक हो जाना, भय के कारण ही है। और इसको समग्रता से देखने का अर्थ है, विभाजन से मुक्त होकर इसका अवलोकन करना। जहाँ कोई विभाजन नहीं है वहीं अच्छाई का अस्तित्व है, आपको अच्छाई विकसित नहीं करनी है। वह चीज जिसे साधारणतः प्रेम कहा जाता है और उससे जुड़े उपद्रव, क्षुद्रता और इसकी मध्यवर्गीय निकृष्टता—क्या मन इसका समग्रता से अवलोकन कर सकता है ? इसका अवलोकन करने के लिए उस प्रत्येक चीज का इनकार होना चाहिए जो प्रेम नहीं है।

आपको पता होगा कि सुख और आनन्द में बहुत अन्तर है। आप सुख पैदा कर सकते हैं, ढेर सारा सोच-विचार इस पर कर सकते हैं तथा अधिक से अधिक इसकी प्राप्ति कर सकते हैं। कल आपने सुख प्राप्त किया; आप इसके बारे में सोच सकते हैं, इस पर बार-बार चिन्तन कर सकते है और आप इस सुख की पुनरावृत्ति कल चाहेंगे। सुख के साथ एक प्रेरणा या प्रयोजन जुड़ा होता है जिसमें मालकियत, प्रभुत्व, अनुसरण आदि जैसी चीजें निहित हैं। अनुसरण में बहुत सुख मिलता है। हिटलर, मुसोलिनी, स्तालिन जैसे व्यक्ति लोगों को अनुसरण करने पर बाध्य कर सके, क्योंकि इसमें अत्यधिक सुरक्षा और बचाव है। जब आप यह सब देखते हैं और इससे मुक्त हो जाते हैं, शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से, तथा जब आपका मन ईर्ष्या, मालकियत एवं प्रभुत्व के भाव को मिटा डालता है, तब आप जान पाते हैं कि प्रेम क्या है; तब आपको यह खोजना नहीं पड़ता।

जब आपका मन प्रेम के अर्थ को समझ लेगा, तो आप स्वभावतः पूछेंगे कि मृत्यु क्या है; क्योंकि मृत्यु और प्रेम साथ-साथ चलते है। यदि मन अतीत के प्रति मरना नहीं जानता है, तो यह नहीं जानता कि प्रेम क्या है। प्रेम का सम्बन्ध समय से नहीं है; यह याद रखने की चीज नहीं है। आप आनन्द को याद नहीं रख सकते और न ही इसे उत्पन्न कर सकते हैं; इसका आगमन बिना बुलाये होता है।

मृत्यु क्या है ? मुझे पता नहीं कि आपने मृत्यु का अवलोकन किया है या नहीं—किसी दूसरे को मरते हुए नहीं वल्कि स्वयं को मरते हुए देखा हैं या नहीं। स्वयं का तादात्म्य किसी भी चीज से न करना अत्यन्त कठिनतम चीजों में से एक है। हममें से अधिकांश व्यक्ति स्वयं का तादात्म्य किसी न किसी चीज से करते हैं—अपने फर्नीचर से, अपने घर से, अपने पति या अपनी पत्नी से, अपनी सरकार से, अपने देश से, स्वयं के बारे में निर्मित प्रतिमा से, किसी विशेष गुणवत्ता से, किसी महानतर चीज से—यह महानतर चीज एक महानतर कबीलावाद हो सकता है जिसका आधुनिक रूप राष्ट्रवाद है। स्वयं का तादात्म्य अपने फर्नीचर से, अपने ज्ञान और अनुभवों से, तथा एक विशेषज्ञ के रूप में अपनी तकनीकी जानकारियों से न करना, अर्थात् इन समस्त तादात्म्यों का अन्त करना एक प्रकार की मृत्यु है। आप कभी इसे करें और तव आप पायेंगे कि इसका क्या अर्थ है। इसका अर्थ कटुता, निराशा और हताशा का भाव नहीं है। यह एक असाधारण बोध है—एक ऐसे मन का जो अवलोकन करने और जीने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र एवं मुक्त है।

दुर्भाग्यवश हमने जीवन ओर मृत्यु को विभाजित कर रखा है। हम 'न जीने' से भयभीत हैं, और जिस ढंग से अभी हम जी रहे हैं उसी को हम जीवन कहते हैं। परन्तु यदि आप वस्तुतः इसकी जाँच करें कि यह जीना क्या है—सैद्धान्तिक रूप से जाँचना नहीं, वल्कि अपनी आँखों से, अपने कानों से अर्थात् अपनी समस्त उपलब्ध क्षमता से जाँचना—तो आप देखेंगे कि यह कितना निकृष्ट, हीन, क्षुद्र और छिछला है; भले ही आपके पास सबसे कीमती कार, एक बड़ा मकान, एक सुन्दर बगीचा हो तथा आपके नाम के साथ डिग्री और उपाधियाँ लगी हों, परन्तु आन्तरिक रूप से जीवन एक सतत संघर्ष और अन्तहीन लड़ाई है, जिसमें विसंगतियाँ, परस्पर विरोधी इच्छाएँ और विभिन्न आकांक्षाएँ मौजूद हैं।

इसी को हम जीना कहते हैं और इससे हम चिपके रहते हैं। जो घटना शरीर के अन्त के साथ-साथ इन सबों का अन्त कर देती है उसे हम मृत्यु कहते हैं। और मृत्यु से भयभीत होने के कारण हमने पुनर्जन्म तथा अन्य तरह के विश्वास पाल रखे हैं, परन्तु ये सभी पलायन हैं। महत्त्व इस बात का है कि आप अभी कैसे जी रहे हैं; इस बात का महत्त्व नहीं है कि आप अगले जन्म में क्या होंगे। अतः प्रश्न यह उठता है कि मन समय से सर्वथा मुक्त होकर जी सकता है या नहीं। आपको अतीत के इस पूरे प्रश्न को ठीक-ठीक समझना चाहिए—अतीत अर्थात् बीता हुआ कल, जो आज के माध्यम से आनेवाले कल को आकार दे रहा है। अतः क्या यह मन—जो समय और विकास का परिणाम है—अतीत से मुक्त हो सकता है, अर्थात् अतीत के प्रति मर सकता है ? जो मन मृत्यु को जान चुका है वही उस चीज का साक्षात्कार कर सकता है जिसे

ध्यान कहते हैं। इस सबको समझे बिना ध्यान करने का कोई भी प्रयास महज एक बचकाना ख्याल है।

सत्य वह नहीं है 'जो है'; परन्तु 'जो है' की समझ सत्य की ओर द्वार खोल देती है। 'जो है' अर्थात् आप जो कुछ हैं, उसे यदि आप अपने हृदय, मन, मस्तिष्क और अपने भावों समेत ठीक-ठीक नहीं समझते, तो आप यह भी नहीं समझ सकते कि सत्य क्या है।

प्रश्नकर्ता : **मैं यहाँ पर आपको जो कुछ बोलते हुए सुनता हूँ उसे अत्यन्त सरलता और आसानी से समझ जाता हूँ, परन्तु जैसे ही मैं बाहर निकलता हूँ, मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता हूँ—और जब मैं अकेला होता हूँ तो मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ।**

कृष्णमूर्ति : महाशय, वक्ता ने जो कुछ कहा है वह बिलकुल साफ और स्पष्ट है। वह 'जो है' को आपके सामने रख रहा है—यह आपका है, यह न केवल यहाँ बल्कि सर्वत्र आपके साथ है, यह वक्ता की मुट्ठी में बन्द नहीं है। वक्ता कोई प्रचार-कार्य नहीं कर रहा है, वह आपसे कुछ नहीं चाहता—न आपका मान, न आपका अपमान, और न ही आपकी प्रशंसा एवं वाहवाही। यह आपकी चीज है—आपका जीवन, आपका दुःख, आपकी निराशा—जिसे आपको समझना है, हर जगह, न कि केवल यहाँ। यहाँ तो आप वक्ता के शब्दों से धक्के खाकर शायद कुछ मिनटों के लिए स्वयं का सामना करते हैं। परन्तु जब आप यहाँ से बाहर जाते हैं, तो असली अड़चन शुरू होती है। हम आपको किसी खास ढंग से सोचने और कार्य करने के लिए प्रभावित नहीं कर रहे हैं—यह तो फिर प्रचार हो जायेगा। परन्तु यदि आपने एक सजग मन और हृदय से सुना है—बिना प्रभावित हुए—तथा अवलोकन किया है, तो आप जब यहाँ से जायेंगे तो यह आपके साथ जायेगा, आप जहाँ कहीं रहेंगे, यह आपके साथ रहेगा, क्योंकि यह आपका है—आपने इसे समझ जो लिया है।

प्रश्नकर्ता : **कलाकार की क्या भूमिका है ?**

कृष्णमूर्ति : क्या कलाकार अन्य लोगों से बहुत भिन्न हैं ? हम जीवन को वैज्ञानिक, कलाकार, गृहिणी, डॉक्टर आदि में क्यों विभाजित कर देते हैं ? सम्भव है कि कलाकार थोड़ा अधिक संवेदनशील और सजीव हो, उसका अवलोकन थोड़ा अधिक तीव्र हो, परन्तु एक मानव के रूप में उसके पास भी समस्याएँ हैं। वह अद्भुत चित्र बना सकता है, प्यारी कविताएँ लिख सकता है या अपने हाथों से सुन्दर चीजें गढ़ सकता है, परन्तु फिर भी वह एक मानव है—चिन्तित, भयभीत, ईर्ष्यालु एवं महत्वाकांक्षी। एक कलाकार महत्वाकांक्षी हो कैसे सकता है ? यदि वह महत्वाकांक्षी है, तो वह कलाकार है ही नहीं। एक सितार या सरोद बजानेवाला, जो अपने वाद्ययंत्र

का प्रयोग पैसा और प्रतिष्ठा कमाने के लिए करता है—आप खुद सोचिये—क्या वह संगीतज्ञ है ? वह वैज्ञानिक जो सरकार, समाज और युद्ध के लिए कार्य करता है—क्या वह वैज्ञानिक है ? जो व्यक्ति ज्ञान और समझ की खोज कर रहा है, वह अन्य लोगों के समान ही भ्रष्ट हो चुका है। वह अपने प्रयोगशाला में असाधारण और अद्‌भुत हो सकता है या वह एक कैनवेंस पर स्वयं को अत्यन्त सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है, परन्तु अपने भीतर वह अन्य व्यक्तियों की तरह ही खण्डित, क्षुद्र, निकृष्ट, चिन्तित और भयभीत है। निश्चय ही कलाकार—जो मानव है—एक ऐसा व्यक्ति है जो अविभाज्य, समग्र और पूर्ण है। व्यक्ति का अर्थ है जो अविभाजित है, किन्तु हम अविभाजित नहीं हैं। हम खण्डों में बँटे हुए मानव हैं—व्यापारी, डॉक्टर, संगीतज्ञ। अतः हम एक ऐसा जीवन विता रहे हैं—ओह ! इसका वर्णन मैं क्यों करूँ, आप खुद यह सब जानते हैं !

प्रश्नकर्ता : **महाशय, विभिन्न सम्भावनाओं के बीच चुनाव करने की क्या कसौटी है ?**

कृष्णमूर्ति : आप चुनाव करते ही क्यों हैं ? जब आप कोई चीज अत्यन्त साफ-साफ देखते हैं, तो चुनाव की आवश्यकता हीं क्या है ? कृपया इसे समझने की कोशिश करें। जो मन भ्रमित, अनिश्चित और अस्पष्ट है, वही चुनाव करता है। चुनाव से मेरा तात्पर्य मनोवैज्ञानिक चुनाव है, न कि लाल और काले रंग के बीच चुनाव। जब तक आप भ्रमित नहीं हैं, तब तक आप चुनाव करेंगे ही क्यों ! यदि आप किसी चीज को विना किसी विकृति के अत्यंत साफ-साफ देख रहे हैं, तो क्या वहाँ चुनाव करने की कोई आवश्यकता है ? मनोवैज्ञानिक तल पर विकल्प नही होते हैं। जब आपको दो भौतिक मार्गों के बीच चुनाव करना होता है तभी विकल्पों का अस्तित्व होता है—क्योंकि तब आप एक मार्ग से या दूसरे मार्ग से जा सकते हैं। परन्तु विकल्पों का वास ऐसे मन में भी होता है जो स्वयं में विभाजित और भ्रमित है—और इसीलिए यह द्वंद्व में होता है तथा यह हिंसक होता है। जो मन हिंसक है वही कहता है कि मैं शांतिपूर्वक जिऊँगा; और अपनी प्रतिक्रिया में यह हिंसक हो जाता है। परन्तु जब आप हिंसा को इसके समग्र रूप में देखते हैं—इसके क्रूरतम रूप से लेकर इसके सूक्ष्मतम रूप तक—तब आप इससे मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : **क्या आप इसे कभी देख भी पायेंगे ?**

कृष्णमूर्ति : महाशय, क्या आपने कभी एक पेड़ का अवलोकन समग्रता से किया है ?

प्रश्नकर्ता : **मैं नहीं जानता।**

कृष्णमूर्ति : महाशय, कभी इसे करके देखें, यदि आपकी दिलचस्पी इस तरह की चीज में हो।

प्रश्नकर्ता : **अगला मौका आने तक मुझे सदा यही लगता है कि मेरी दिलचस्पी है।**

कृष्णमूर्ति : इसकी जाँच करने के लिए हमलोग पेड़ से ही शुरू करें, क्योंकि यह अत्यन्त वस्तुपरक चीज है। आप पेड़ का अवलोकन पूर्णता से करें—अर्थात् विना विभाजन के, द्रष्टा-भाव से मुक्त होकर अवलोकन करें। इसका यह अर्थ नहीं कि आप को पेड़ के साथ अपना सम्वन्ध जोड़ना है या आपको पेड़ वन जाना है। यह तो वात ही वेतुकी है। वस्तुतः आप पेड़ को इस तरह देखें कि पेड़ के और आपके बीच विभाजन न हो तथा वह अंतराल भी न हो, जो 'द्रष्टा' के पेड़ सम्वन्धी ज्ञान, पूर्वाग्रह और विचार द्वारा निर्मित होता है। पेड़ को उस समय नहीं देखें, जव आप क्रोध, ईर्ष्या, निराशा या आशा से भरे होते हैं। जव आप विभाजन और अन्तराल के विना अवलोकन करेंगे, तभी आप पेड़ को समग्र रूप में देख पायेंगे।

जव आप अपनी पत्नी, अपने पति, अपने पड़ोसी, अपने दोस्त या किसी अन्य व्यक्ति का अवलोकन करते हैं, उस समय यदि आप उन्हे विना किसी प्रतिमा के देख पायें—प्रतिमा जो कि अतीत का संग्रह है—तो आप देखेंगे कि एक कैसी अद्‌भुत चीज घटित होती है। आप पायेंगे कि आपने अपने जीवन में किसी चीज को उस तरह कभी देखा ही नहीं था। किन्तु इतनी समग्रता से अवलोकन करने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ कोई भी विभाजन न हो। वहुत से लोग 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के वीच के अन्तराल को मिटाने के लिए एल. एस. डी. तथा अन्य मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। मैंने ऐसे मादक द्रव्यों का स्पर्श नहीं किया है। एक वार इस खेल को शुरू करने का अर्थ है, सदा के लिए भटक जाना। आप सदा के लिए इस पर निर्भर हो जाते हैं, और यह देर-सवेर अपना उत्पात और उपद्रव शुरू करता है।

प्रश्नकर्ता : **विचार और वास्तविकता में क्या सम्वन्ध है ?**

कृष्णमूर्ति : समय के साथ विचार का क्या सम्वन्ध है ? जो परिमेय है तथा जो अपरिमेय है उनके साथ विचार का क्या सम्वन्ध है ? विचार स्वयं क्या है ? जाहिर है कि विचार स्मृति की प्रतिक्रिया है। यदि आपके पास स्मृति न हो तो आप सोच-विचार विलकुल ही नहीं कर पायेंगे; आप स्मृति-लोप की एक अवस्था में होंगे। विचार सदा पुराना है। विचार मुक्त नहीं है, और यह नया कदापि नहीं हो सकता। जब विचार मौन हो जाता है, तो एक नयी खोज जन्म ले सकती है, परन्तु विचार स्वयं किसी नयी चीज की खोज सम्भवतः नहीं कर सकता। क्या यह बात साफ और स्पष्ट है ? कृपया मेरे साथ सहमत न हों। जब आपसे कोई जाना-पहचाना प्रश्न पूछा जाता है तो आप का उत्तर तत्काल होता है। "आपका क्या नाम है ?" आप तत्काल उत्तर देते हैं। "आप कहाँ रहते हैं ?" आप तत्क्षण उत्तर देते हैं। परन्तु जब आप से कोई जटिल प्रश्न

पूछा जाता है, तो आप ठहर कर उत्तर देते हैं। उस ठहराव में अर्थात् उस अन्तराल में विचार देखता है, याद करने की कोशिश करता है।

विचार सत्य को पाने की चाह और चेष्टा करता है; अपनी इस चाह और चेष्टा में विचार अतीत की आँखों से ही देखता है। यही अड़चन और मुश्किल है खोज की। जब आप कोई चीज खोजते हैं; तो यह मान लिया जाता है जो चीज आप खोजने के बाद पायेंगे उसे आप पहचान सकेंगे। अतः खोज द्वारा प्राप्त जिस वस्तु को पहचाना जा सकता है वह वस्तुतः अतीत का ही हिस्सा है। अतः विचार समय है। क्या, नहीं है ? कल आपको परम प्रसन्नता की एक अनुभूति हुई, आप इसके बारे में सोचते हैं और आप इसकी पुनरावृत्ति आने वाले कल में चाहते हैं। अतीत में प्राप्त सुख के बारे में सोचते हुए, विचार इसकी पुनरावृत्ति भविष्य में चाहता है। अतः बीता हुआ और आनेवाला कल ही समय का वह अन्तराल निर्मित करता है जिसमें आप उस सुख के बारे में सोचने जा रहे हैं और उसे पाने का प्रयास करने जा रहे हैं। अतः विचार समय है। और विचार कभी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह अतीत की प्रतिक्रिया है। विचार किसी नयी चीज का पता लगा भी कैसे सकता है! यह तभी सम्भव है जब मन पूर्णतः मौन हो जाये। इसलिए नहीं कि यह किसी नयी चीज को पाना चाहता है, क्योंकि तब वह मौन एक प्रयोजन से प्रेरित होगा, अतः वह मौन नहीं है।

यदि आप इसे समझ जायें तो आप न केवल सारी बात समझ जायेंगे बल्कि स्वयं अपने प्रश्न का उत्तर भी दे डालेंगे। हम कुछ पाने के लिए, पूछने के लिए, देखने के लिए विचार का प्रयोग सदा एक साधन के रूप में कर रहे हैं। क्या आप सोचते हैं कि विचार जान सकता है कि प्रेम क्या है ? विचार जिसे प्रेम कहता है उसके सुख को यह जान सकता है, और प्रेम के नाम पर यह उस सुख की पुनः माँग कर सकता है। चूँकि विचार समय और मापदण्ड की उपज है, इसलिए यह सम्भवतः उस चीज का साक्षात्कार नहीं कर सकता जिसे मापना सम्भव नहीं है। अतः अब प्रश्न यह उठता है: आप विचार को कैसे शान्त और मौन कर सकते है ? आप नहीं कर सकते। शायद इसकी छानबीन हम किसी और समय कर सकेंगे।

प्रश्नकर्ता : **क्या जीने के लिए हमें नियमों की आवश्यकता है ?**

कृष्णमूर्ति : महाशया, इस वार्ता के दौरान मैं जो कुछ कहता रहा हूँ उसे आपने सुना नहीं है! कौन नियम बनायेगा ? धर्मों ने, निरंकुश सरकारों ने अथवा स्वयं आपने, अपने आचार और व्यवहार के लिए नियम बनाये हैं। और आपको पता है कि इसका क्या परिणाम होता है—आप जो होना चाहती हैं और आप जो हैं, इनके बीच एक लड़ाई शुरू हो जाती है। आप ही बताइये, अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है—जो आपको होना चाहिए उसे समझना या जो आप वस्तुतः हैं उसे समझना ?

प्रश्नकर्ता : मैं क्या हूँ ?

कृष्णमूर्ति : हम पता लगायें। मैं आपको कह चुका हूँ कि आप क्या हैं—अपना देश, अपना फर्नीचर, अपनी प्रतिमाएँ, अपनी महत्वाकांक्षाएँ, अपनी प्रतिष्ठा, अपनी मनोवृत्ति, अपनी जाति, अपनी विचित्रताएँ, अपने पूर्वाग्रह—आपको पता होगा कि आप क्या हैं ! इन्हीं के सहारे आप सत्य, परमात्मा और वास्तविकता को पाना चाहते हैं। चूँकि मन को पता नहीं है कि अपनी समस्त अन्तर्वस्तु से मुक्त कैसे हों, इसलिए वह एक बाहरी शक्ति का आविष्कार कर लेता है या जीवन को एक नया अर्थ दे देता है।

जब आप विचार के स्वरूप को समझ जाते हैं और इसके प्रति सजग हो जाते हैं, तब आप अपने पूर्वाग्रह को देखिये, और आप पायेंगे कि आपका धर्म एक पूर्वाग्रह है, किसी देश के साथ आपका तादात्म्य एक पूर्वाग्रह है। आपके पास बहुत सारे मत हैं, बहुत सारे पूर्वाग्रह हैं; इनमें से एक का अवलोकन आप अपने हृदय, मन और प्रेम से कीजिए—इसका ख्याल रखिये, इसको देखिये। यह मत कहिए "मेरे पास यह नहीं होना चाहिए" या "मेरे पास यह होना ही चाहिए।" आप सिर्फ इसको देखिए। और तब आप जानेंगे कि बिना किसी पूर्वाग्रह के कैसे जियें। जो मन पूर्वाग्रह से तथा द्वंद्व से मुक्त है वही देख सकता है कि सत्य क्या है।

लंदन
मई २७, १९७०

१०

धार्मिक मन

"धार्मिक मन अपना आलोक स्वयं है। इसकी ज्योति दूसरे द्वारा प्रज्ज्वलित नहीं है—दूसरों द्वारा प्रज्ज्वलित ज्योति बहुत जल्दी बुझ सकती है।"

क्या हम ध्यान के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे? किसी चीज को करना और उस पर सोचना—ये दो भिन्न चीजें हैं। यदि हम ध्यान जैसे जटिल विषय की जाँच-पड़ताल करने जा रहे हैं, तो मुझे लगता है कि हमें शब्दों के अर्थ को समझ कर शब्दों के पार चला जाना चाहिए। ध्यान में बहुत सारी चीजें निहित हैं। ध्यान को वस्तुतः समझने और करने के लिए—बौद्धिक, शाब्दिक या सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं—एक विलक्षण गम्भीरता चाहिए, जिसमें प्रज्ञा और हास्य दोनों का समावेश हो।

सर्वप्रथम हमें इसकी छानवीन करनी चाहिए कि धार्मिक मन क्या है; "धर्म क्या है" की छानवीन नहीं। धार्मिक मन से मेरा मतलब है, मन और हृदय की वह गुणवत्ता जो धार्मिक है। आप अपने संस्कारों के अनुसार 'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ दे सकते हैं—या तो भावुकता और भक्ति-भाव से इसे स्वीकार करते हुए या एक धार्मिक मनोवृत्ति एवं एक धार्मिक जीवन-शैली के प्रश्न को पूरी तरह नकारते हुए, जैसा कि बहुत सारे लोग करते हैं। धार्मिक विषयों पर लोगों को बात करते हुए भी शर्म आती है। परन्तु सही अर्थों में, एक धार्मिक मन का आस्तिकता और नास्तिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है—इसके पास कोई सिद्धान्त, दर्शन या निष्कर्ष नहीं होता। चूँकि इसके पास कोई भय नहीं है, अतः इसे किसी विश्वास की आवश्यकता नहीं है।

धार्मिक मन का वर्णन करना कठिन है। कोई भी वर्णन इस वर्णित वस्तु के निकट आपको नहीं ले जायेगा, परन्तु यदि आप संवेदनशील, सजग और गम्भीर हैं, तो आप अपना मार्ग टटोलते हुए इस ओर बढ़ सकते हैं।

सर्वप्रथम आप इस बात को समझ लें कि आपको किसी संगठित धर्म से नहीं बँध जाना है। मैं समझता हूँ कि अधिकांश लोगों के लिए यह अत्यन्त कठिन चीज है; वे किसी विश्वास, सिद्धान्त, निष्कर्ष, आशा या अपने किसी अनुभव से चिपके रहना चाहते हैं, जिसे वे धार्मिक अर्थ और महत्व देते हैं। जितनी भी तथाकथित गूढ़ अनुभूतियाँ हैं, चाहे ये आपके गुरु, साधु-सन्तों और रहस्यवादियों की हों या स्वयं आपकी

हों—इनके प्रति जो आपकी आसक्ति है और तद्‌जन्य इन पर निर्भरता, इनको पूर्णतः और समग्रतः परे रख देना चाहिए। आशा है कि आप इसे कर रहे हैं, क्योंकि एक धार्मिक मन भय से बोझिल नहीं होता और न ही यह किसी तरह की सुरक्षा और सुख की खोज करता है। यह पता लगाने के लिए कि ध्यान क्या है, एक ऐसे मन की नितांत आवश्यकता है जो अनुभवों से मुक्त हो। अनुभव की खोज करने का अर्थ है भ्रान्ति के मार्ग का अनुसरण करना।

किसी भी तरह के अनुभव की खोज नहीं करना अत्यन्त कठिन चीज है। हमारे जीवन का अधिकांश हिस्सा इतना छिछला और यान्त्रिक है तथा हम जीवन के इस सतहीपन से इस तरह ऊबे हुए हैं कि हम गहरे से गहरे अनुभव को पाना चाहते हैं। हम किसी ऐसी चीज के लिए लालायित हैं जिसमें एक अर्थ हो, गहराई हो, पूर्णता हो, सौन्दर्य हो, प्यारापन हो—इसलिए मन निरन्तर इसकी खोज किये चला जाता है। और मन जिस चीज की खोज करता है उसे ही यह पाता है, परन्तु जो चीज यह पाता है वह सत्य नहीं है। आप इन बातों को स्वीकार कर रहे हैं या अस्वीकार कर रहे हैं? कृपया स्वीकार या इनकार मत करें—यह आपके या मेरे सुख की बात नहीं है, क्योंकि इसमें किसी की भी सत्ता नहीं है, न वक्ता की न किसी अन्य व्यक्ति की। आपने देखा होगा कि हममें से अधिकांश लोग चाहते हैं कि कोई चीज उनका नेतृत्व और मार्गदर्शन करे, उनकी सहायता करे, और वे उस व्यक्ति में, प्रतिमा में, सिद्धान्त में या आदर्श में अपनी आस्था और विश्वास अर्पित करते हैं। इस प्रकार दूसरे पर निर्भरता जन्म लेती है। जो मन किसी सत्ता पर निर्भर है और इसलिए जो अकेले खड़े होने में असमर्थ है, वह कोई चीज समझने में असमर्थ है, प्रत्यक्ष देखने में असमर्थ है—ऐसे मन को अधिकांशतः गलत रास्ते पर जाने का भय होगा, सही चीज न करने का भय होगा, उस परमानन्द को प्राप्त न करने का भय होगा, जिसका विश्वास दिलाया गया था या उसने खुद आशा लगा रखी थी। इस तरह की जितनी भी सत्ता है उन सबों का अन्त हो जाना चाहिए; जिसका अर्थ है आपके पास कोई भय न हो, दूसरे पर आपकी निर्भरता न हो, तथा आपके पास एक ऐसा मन हो जो अनुभव की खोज नहीं कर रहा है। जब आप किसी अनुभव की खोज करते हैं तो यह इस बात का संकेत करता है कि आपको बहुत बड़ा सुख चाहिए, चाहे आप इसे जिस नाम से पुकारें—परमानन्द, रसमग्नता, सत्यान्वेषण, बुद्धत्व की प्राप्ति।

एक और प्रश्न यह है: कोई खोजी व्यक्ति यह कैसे जानेगा कि उसने जिस चीज को पाया है वह क्या है, अर्थात् वह सत्य है या नहीं? जो मन कुछ खोज रहा है, क्या वह ऐसी चीज को पा सकता है, जो जीवन्त हो, चलायमान हो, और जिसके ठहरने की कोई जगह न हो? धार्मिक मन किसी विश्वास से, किसी समूह से, किसी

सम्प्रदाय से, किसी धर्मतंत्रीय ढाँचे से, किसी संगठित तमाशे से नहीं बँधा होता, अतः यह चीजों को प्रत्यक्ष देखने में और उन्हें तत्काल समझने में समर्थ है। ऐसा होता है एक धार्मिक मन, क्योंकि यह अपना आलोक स्वयं है। इसकी ज्योति दूसरे द्वारा प्रज्वलित नहीं है—दूसरों द्वारा जलायी गयी ज्योति बहुत जल्दी बुझ सकती है। हमारे अधिकांश धार्मिक मत और कर्मकाण्ड प्रचार के ही परिणाम हैं जिनका एक धार्मिक जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। एक धार्मिक मन अपनी ज्योति आप है, अतः इसके लिए न कोई पुरस्कार है न दण्ड।

ध्यान का अर्थ है मन का समग्र रूप से खाली हो जाना। मन की अन्तर्वस्तु समय का परिणाम है अर्थात् उस चीज का परिणाम है जिसे विकास (Evolution) कहा जाता है—यह हजार अनुभवों का परिणाम है। यह ज्ञान और स्मृतियों का एक विशाल संग्रह है। मन अतीत से बोझिल है, क्योंकि समस्त ज्ञान अतीत है, समस्त अनुभव अतीत है, तथा समस्त स्मृति हजार अनुभवों का ही संचित परिणाम है—यही 'ज्ञात' है। क्या चेतन और अचेतन मन स्वयं को अतीत से पूर्णतः खाली कर सकता है? यही है ध्यान की समस्त गति। यदि मन अपनी समस्त गतिविधि का अवलोकन करने लगे अर्थात् यह बिना किसी चुनाव के स्वयं के प्रति सजग हो जाये, तो क्या यह सजगता मन को 'ज्ञात' से पूर्णतः खाली कर सकती है? क्योंकि अतीत का कोई भी अवशेष रह जाने पर मन निर्दोष नहीं हो सकता है। अतः मन का समग्रतः खाली और शून्य हो जाना ही ध्यान है।

ध्यान के सम्बन्ध में बहुत सारी चीजें कही जाती हैं, खासकर पूरब के देशों में। वहाँ ध्यान की शिक्षा देने के बहुत सारे केन्द्र हैं, बहुत सारे शिष्य हैं, ध्यान की साधना और पद्धति पर ढेर सारी पुस्तकें हैं। ध्यान के बारे में जो कुछ कहा जा रहा है वह सही है या गलत, यह आप कैसे जानेंगे? जब वक्ता कहता है कि मन का पूर्णतः खाली हो जाना ही ध्यान है, तो आप कैसे जानेंगे कि यह सच है? कौन-सी चीज बतायेगी आपको? आपका व्यक्तिगत पूर्वाग्रह या वक्ता के चेहरे को पसन्द करने की आपकी खास विलक्षणता? अथवा उसकी ख्याति, या उसमें परिलक्षित होती सहानुभूति और एक तरह की आत्मीयता? कैसे जानेंगे आप? ध्यान क्या है, इसका पता लगाने के लिए क्या यह जरूरी है कि आप ध्याद सिखानेवाले गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करें तथा समस्त पद्धतियों और परम्पराओं से गुजरें? अथवा आप इन लोगों से मुक्त होकर ही ध्यान का पता लगा सकते हैं?

अतः अच्छा होगा कि आप सबों की अनसुनी कर दें, किसी की नहीं सुनें—वक्ता की भी नहीं, खासकर। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि मैं देखता हूँ कि आप बहुत आसानी से प्रभावित हो जाते हैं। चूँकि आप सभी कुछ न कुछ चाह

रहे हैं, कोई चीज पाने के लिए लालायित हैं—बुद्धत्व, परमानन्द, प्रसन्नता, स्वर्ग—अतः आप बहुत आसानी से फँस जाते हैं। अतः आपको ध्यान का पता स्वयं ही लगाना है। ध्यान करने के लिए या गुरु की खोज करने के लिए भारत जाने की कोई जरूरत नहीं है, और न ही किसी जेन बौद्ध मठ में जाने की जरूरत है, क्योंकि यदि आप देखना जानते हैं, तो सब कुछ आपके ही भीतर है। अतः आप समस्त सत्ता को बिलकुल परे रख दें और किसी पर निर्भर न रहें—सत्य किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, यह किसी का वैयक्तिक मामला नहीं है। ध्यान कोई सुख या अनुभूति नहीं है जो व्यक्तिगत और निजी हो।

आप देख सकते हैं कि आपके शरीर, मन और हृदय के बीच परम संगति और सामंजस्य होना चाहिए—यदि मनःशारीरिक अस्तित्व को इस तरह बाँटा जाये। यह पूर्ण संगति और सामंजस्य इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इनके बीच किसी भी तरह के परस्पर विरोध और अलगाव के रहने पर द्वन्द्व उत्पन्न होगा। द्वन्द्व ही ऊर्जा के अपव्यय का सारभूत तत्व है, और सच यह है कि ध्यान करने के लिए आपके पास प्रचण्ड ऊर्जा होनी चाहिए। यह संगति और सामंजस्य आवश्यक है ताकि मन, मस्तिष्क, संघटित शरीर रचना एवं हृदय की गहराई समग्र हो, खण्डित नहीं। आप यह स्वयं देख सकते हैं, यह बात किसी से सीखने की जरूरत नहीं है। इस संगति और सामंजस्य को कैसे पैदा करें, यह एक अलग प्रश्न है। पूर्ण संगति और सामंजस्य का अर्थ है कि मन एवं संघटित शरीर रचना को असाधारण रूप से संवेदनशील होना चाहिए; अतः आपको आहार, व्यायाम एवं सम्यक् जीवनचर्या के पूरे प्रश्न की गहराई में जाना होगा। चूँकि हम स्वयं इस सम्बन्ध में सोचना-विचारना नहीं चाहते या इसकी जाँच-पड़ताल करना नहीं चाहते, अतः हम किसी अन्य व्यक्ति के पीछे चल पड़ते हैं जो हमें बताये कि हमें क्या करना है। और जब हम दूसरे व्यक्ति पर निर्भर हो जाते हैं, तो हम अपनी ऊर्जा को सीमित कर लेते हैं—क्योंकि तब हम इस द्वन्द्व और आशंका से घिर जाते हैं कि यह सम्भव है या असम्भव। यदि हम इसे असम्भव मान लेते हैं, तो हमारी ऊर्जा अत्यन्त सीमित हो जाती है, और यदि हम अपनी ज्ञात वस्तुओं की ही भाषा में इसे भी एक सम्भव वस्तु मान लेते हैं, तो यह अत्यन्त क्षुद्र और छोटा हो जाता है।

इस प्रकार हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि पूर्ण संगति और सामंजस्य कितना आवश्यक है, क्योंकि यदि किसी भी तरह का असामंजस्य और विसंगति होगी, तो विकृति पैदा होगी। दूसरी चीज जो आवश्यक है, वह है अनुशासन। अनुशासन अर्थात् व्यवस्था। अनुशासन का अर्थ दमन नहीं है और न ही यह किसी सिद्धान्त, विचार, निष्कर्ष, विधि और पद्धति का अनुसरण है।

व्यवस्था का अर्थ कोई ऐसी रूपरेखा या कोई ऐसा ढाँचा नहीं है जिसके अनुसार आपको जीना है। जब आप अव्यवस्था की पूरी प्रक्रिया को समझ लेते हैं तभी व्यवस्था का आगमन होता है—अर्थात् 'निषेधात्मक' से गुजर कर ही आप 'विध्यात्मक' तक पहुँचते हैं। हमारा पूरा जीवन ही एक अव्यवस्था है, जिसका अर्थ है परस्पर विरोध और असंगति—सोचना कुछ, कहना कुछ और, करना बिलकुल ही भिन्न। यह एक खण्डित अस्तित्व है और विखंडन की इसी प्रक्रिया में हम किसी न किसी व्यवस्था को खोजने और पाने की कोशिश करते हैं।

व्यवस्था का सारभूत तत्व क्या है ? हमारा जीवन अव्यवस्थित और विभाजित है; हम अलग-अलग खण्डों में जीते हैं; हम एक समग्र और अखण्डित हस्ती नहीं हैं। अव्यवस्था का सारभूत तत्व अन्तर्विरोध है, और जब हमारे भीतर विरोध मौजूद होता है, तो चेष्टा पैदा होती है और इसीलिए अव्यवस्था भी पैदा होती है। यह अत्यन्त सरल-सी चीज है। सम्भवतः आप सरल चीजों को पसन्द नहीं करते। आप इसे अत्यन्त जटिल बना सकते हैं। आप देख सकते हैं कि आपका अपना जीवन कितना अव्यवस्थित है; विभिन्न इच्छाओं, इरादों, उद्देश्यों और निष्कर्षों का परस्पर विरोध किस तरह एक-दूसरे पर वार कर रहा है; हिंसक होते हुए, शान्तिपूर्वक जीने की इच्छा रखना; महत्वाकांक्षी, लोभी तथा प्रतिस्पर्धात्मक होना और कहना यह कि मैं प्रेम करता हूँ; स्वकेन्द्रित, अहंकारी एवं सीमित होना और बात करना विश्वबन्धुत्व की। हम झूठी चीज का प्रदर्शन करते हैं और इस प्रकार बृहत् पाखण्ड का जन्म होता है।

अतः व्यवस्था आवश्यक है। अव्यवस्था की समझ ही स्वयं अपने अनुशासन को जन्म देती है। यह अनुशासन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें दमन और नियमानुसरण नहीं है। आशा है कि वक्ता इसे अच्छी तरह स्पष्ट कर पा रहा है, कम से कम शाब्दिक रूप से। अनुशासन का अर्थ यान्त्रिक ज्ञान का संग्रह करना नहीं है बल्कि इसका अर्थ है सीखना—आप जिस तरह का अव्यवस्थित जीवन बिता रहे हैं उसके बारे में सीखना, और इसलिए किसी भी क्षण किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना। निष्कर्षों, आदर्शों तथा आदर्शों के अनुरूप बनने की इच्छाओं पर ही हमारी अधिकांश क्रियाएँ आधारित हैं। अतः हमारी क्रियाएँ सदा असंगत होती हैं और इसलिए अव्यवस्थित होती हैं। आप इसे अत्यन्त आसानी से देख सकते हैं। यदि आप अपने भीतर इसे देखें, तो सहज ही व्यवस्था का आगमन होगा, और इसलिए समस्त सत्ता से एवं भय से मुक्ति का जन्म होगा। तब आपसे यदि कभी कोई भूल भी होगी, तो आप तत्काल उसका सुधार कर लेंगे।

यह कैसे सम्भव है कि मन किसी भ्रांति में न पड़े ? आप अन्तहीन रूप से ध्यान कर सकते हैं और संभव है कि इस ध्यान में आप माया और भ्रांति का सृजन कर लें।

हाल ही में हमारी मुलाकात एक ऐसे व्यक्ति से हुई जो पच्चीस वर्षों से ध्यान कर रहा था। उसने सब कुछ का परित्याग कर दिया था। परिवार, सम्पत्ति, उच्च पद, नाम और यश, इन सभी चीजों का उसने परित्याग कर दिया था और वह पच्चीस वर्षों तक ध्यान करता रहा। दुर्भाग्यवश एक दिन कोई व्यक्ति उसे ऐसी ही एक वार्ता में ले आया और अगले दिन वह वक्ता से मिलने आया। वह कह रहा था; "आपने ध्यान के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह पूर्णतः सच है। मैं इतने दिनों तक स्वयं को सम्मोहित करता रहा। अपने संस्कारों के अनुसार मुझे दिव्य दर्शन होते थे और इनमें मुझे परम सुख का अनुभव होता था।" यदि आप ईसाई हैं तो आपको ईसा मसीह के दर्शन होंगे; यदि आप हिन्दू हैं तो आपको अपने ईष्ट देवता के दर्शन होंगे और आपको लगेगा कि प्रत्यक्ष संवाद हो रहा है। यह सब आपके पूर्वअर्जित संस्कारों के कारण ही घटित होता है।

अतः प्रश्न यह है, मन भ्रांति और माया से कैसे पूर्णतः मुक्त हो सकता है ? आपको यह प्रश्न अत्यंत गंभीरता और गहराई से करना होगा। बहुत सारे लोग तरह-तरह के योगिओं और गुरुओं की ओर आकर्षित हो जाते हैं, जो उन्हे कोई शब्द, मंत्र या नारा दे देते हैं ताकि इनका नियमित जप करने से उन्हें अद्‌भुत अनुभूतियाँ प्राप्त हो—आप वक्ता का अभिप्राय समझ रहे होंगे। क्या आपने कभी किसी संगीत के सुर और तान को इतनी पूर्णता से सुनने की कोशिश की है कि उस एक ध्वनि के सिवाय अन्य कोई भी ध्वनि न बचे ? यदि आपका मन उस ध्वनि का पीछा करने लगे अर्थात् उसके साथ चलने लगे, तो आपको असाधारण परिणाम मिलेंगे। परन्तु यह ध्यान नहीं है, यह एक ऐसा दाँव-पेच है जिसका प्रयोग आप अपने ऊपर ही कर सकते हैं, और यह भ्रांति का ही दूसरा रूप है।

भावातीत अनुभूति की खोज करने वाले लोग जिन मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं वे भी कतिपय परिणाम उत्पन्न करते हैं—और इसका संबंध शरीर के रसायनशास्त्र से है। इसी तरह यदि आप लम्बे समय तक उपवास करें, तो इससे शरीर की संवेदनशीलता बढ़ जाती है और आपका मन अत्यधिक साफ, तीक्ष्ण, सजग और सतर्क हो जाता है। ये परिणाम आप सम्यक् प्राणायाम से भी प्राप्त कर सकते हैं। ये विभिन्न तरह की चालबाजी हैं और ये सब किसी न किसी तरह की भ्रांति पैदा करती हैं। मन भ्रांतियों से चिपका रहता है, क्योंकि ये अत्यंत तृप्तिदायक हैं, और ये आपकी व्यक्तिगत और निजी उपलब्धियाँ बन जाती हैं। परन्तु जहाँ सारा संसार विकृति, भ्रष्टाचार, दुःख और यंत्रणा से गुजर रहा हो, वहाँ जीवन के विराट् क्षेत्र के एक छोटे-से कोने में आपके उस क्षुद्र दिव्य दर्शन का मूल्य ही क्या है !

अतः वे सभी चीजें जो अपरिपक्व और बचकाना हैं उनकी आप उपेक्षा कर सकते हैं। ये चीजें मूर्च्छा, जड़ता और व्यामोह में ले जाती हैं तथा मन को मंद और

संवेदनशून्य कर देती हैं। अब प्रश्न यह है : मन समस्त भ्रांतियों से कैसे मुक्त होगा, इस बात का ध्यान रखते हुए कि यदि कोई चेष्टा और असंगति होगी, तो भ्रांति भी निर्मित होगी ही ? विभिन्न प्रकार के भ्रम और भ्रांतियों को प्रेरित करने वाली जो यह असंगति, अशांति और विकृति की स्थिति है तथा जो विभिन्न प्रकार के सामाजिक, धार्मिक और व्यक्तिगत भ्रष्टाचार हैं इन सबों को पूर्णतः कैसे मिटाया जा सकता है ! यह तभी हो सकता है जब मन पूर्णतः शान्त और स्थिर हो, क्योंकि विचार की कोई भी गति अतीत की ही एक गति है। विचार वस्तुतः संचित अनुभव, ज्ञान, स्मृति इत्यादि की ही प्रतिक्रिया है—और यह सब का सब अतीत है। जब तक अतीत की यह गति मन और मस्तिष्क के सम्पूर्ण ढाँचे में व्याप्त है तब तक विकृति अवश्यंभावी है।

अतः प्रश्न यह है : ध्यान की अवस्था में विचार पूर्णतः अनुपस्थित कैसे हो सकता है ? विचार आवश्यक है; जितना ही यह स्वस्थ, संतुलित, विवेकपूर्ण, तर्कसंगत, वस्तु-परक, अव्यक्तिगत और भावुकतारहित होगा उतना ही यह कारगर और कार्यकुशल होगा। जीवन में कार्य करने के लिए आपको विचार का प्रयोग करना ही चाहिए। परन्तु मन को विकृति के समस्त भाव से मुक्त होकर यह पता लगाने में भी समर्थ होना चाहिए कि सत्य क्या है तथा परम पुनीत और पवित्र चीज क्या है। जीने के लिए आवश्यक विचार-प्रक्रिया का उपयोग, तथा विचार से मुक्ति—इन दोनों के बीच संगति और सामंजस्य होना ही चाहिए। यह तर्कसंगत चीज है; यह कोई व्यक्तिगत और रहस्यमय सिद्धांत नहीं है। कोई भी ऐसी चीज जो सत्य हो, जो अन्वेषण और निरीक्षण करने के लिए नयी हो तथा जो पहले से निर्मित न हो—ऐसी चीज को देखने के लिए मन को 'ज्ञात' से मुक्त होना चाहिए। और फिर भी आपको 'ज्ञात' में ही जीना है। जिन क्षणों में एक व्यक्ति ने जेट इञ्जन का आविष्कार किया उन क्षणों में वह इण्टर्नल कमबॅस्चॅन इञ्जन के ज्ञान से मुक्त रहा होगा। ठीक इसी तरह यदि मन किसी ऐसी चीज का साक्षात्कार करना चाहता है जो समग्रतः नया है तो वहाँ समस्त भ्रांतियों से मुक्त पूर्ण और समग्र मौन होना चाहिए, न केवल विचार की गति के भीतर बल्कि स्मृतियों से भरी स्वयं मस्तिष्क-कोशिकाओं की क्रिया के भीतर भी।

यह एक वृहत् समस्या है; क्या नहीं है ? जिस ढंग से हम नियमों, निष्कर्षों एवं पूर्वाग्रहों में जी रहे हैं, क्या आप उसे समझ रहे हैं ! जीविका कमाने के लिए तथा पद और प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए कार्य करने की जो हमारी बँधी-बँधायी नित्यचर्या है उसमें हम यंत्रवत जी रहे हैं। हमारा जीवन विभिन्न प्रकार के अनुसरण की एक शृंखला है—मुख्य रूप से या तो हम भय का अनुसरण करते हैं या सुख का अनुसरण करते हैं। ऐसा मन सम्भवतः किसी नयी चीज का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। अतः साधना की कोई विधि और पद्धति बतानेवाला एक गुरु जब आपसे कहता है कि यदि

तुम यह साधना करो तो तुम्हे 'वह' प्राप्त हो जायेगा—तो वह तथाकथित गुरु झूठ बोल रहा है। कोई भी व्यक्ति जो कहता है कि मैं जानता हूँ, वह वस्तुतः जानता नहीं है। जो वह जानता है वह एक बँधे-बँधाये अनुशासन का अभ्यास है तथा नियमों का अनुसरण है।

अतः मन, मस्तिष्क और शरीर को पूर्ण संगति एवं सामंजस्य में मौन हो जाना चाहिए—मौन की वह अवस्था नहीं जो किसी शामक औषधि या मंत्र-जप द्वारा उत्पन्न की जाती है। किसी शब्द या मंत्र के बार-बार दोहराने से मन संवेदनशून्य तथा मंद हो जा सकता है, और एक जड़ एवं मूर्च्छित मन सम्भवतः सत्य का पता नहीं लगा सकता है। सत्य वह है जो हर समय नया है—'नया' शब्द सही नहीं है, यह वस्तुतः 'समयातीत' है।

अतः मौन का होना आवश्यक है। यह मौन शोर का विपरीत नहीं है, और न ही यह बकबक का बन्द हो जाना है। यह नियन्त्रण का परिणाम भी नहीं है। "मैं मौन हो जाऊँगा"—यह कहना असंगति और अन्तर्विरोध उत्पन्न करता है। जब आप कहते हैं कि मैं मौन हो जाऊँगा, तो वहाँ एक ऐसी सत्ता मौजूद हो जाती है जो मौन होने का संकल्प करती है और इसलिए वह इसका अभ्यास करती है—अतः वहाँ विभाजन, विसंगति और विकृति उत्पन्न होती है।

इस सबके लिए बृहत् ऊर्जा और क्रिया आवश्यक है। हम ज्ञान का संग्रह करने में अत्यधिक ऊर्जा का अपव्यय करते हैं। ज्ञान का एक अपना स्थान है—आपके पास ज्ञान होना चाहिए, जितना अधिक हो उतना ही अच्छा। परन्तु जब ज्ञान यान्त्रिक हो जाता है तथा जब यह इस भ्रान्ति को निर्मित करता है कि अब और अधिक कुछ शेष नहीं है, जिसके फलस्वरूप हम यह निष्कर्ष बना लेते हैं कि स्वयं को बदलना सम्भव नहीं है—तो हमारे पास ऊर्जा नहीं रह जाती।

कुछ धर्मों में यह धारणा पायी जाती है कि कामवासना को नियन्त्रित किया जाना चाहिए ताकि परमात्मा को पाने के लिए आपके पास अत्यधिक ऊर्जा हो। बेचारे उन साधु-सन्तों और संन्यासियों के बारे में सोचिये कि परमात्मा को पाने के लिए वे किस यन्त्रणा और उत्पीड़न से गुजरते हैं! और परमात्मा—यदि उसका अस्तित्व है—नहीं चाहता एक खण्डित, उत्पीड़ित और विकृत मन, अथवा ऐसा मन जो मन्द तथा संवेदनशून्य हो जाने के कारण व्यामोह और जड़ता में जी रहा है।

जब आप देखना और अवलोकन करना जानते हैं, तो मन के मौन का आगमन सरलता और सहजता से होता है, बिना किसी प्रयास के होता है। जब आप किसी बादल का अवलोकन करते हैं, तो आप इसे बिना किसी शब्द और विचार के देखें;

आप 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के विभाजन से मुक्त होकर देखें। तव देखने की क्रिया में एक सजगता और सावधानी आती है; आप सजग और सावधान होने का संकल्प नहीं लेते, वल्कि आप सजगता और सावधानी के साथ देखते हैं, भले ही यह देखना एक सेकण्ड या एक मिनट तक ही ठहरे—किन्तु यह काफी है। लोभी मत वनें, यह मत कहें, "काश, इसी ढंग से मैं सारा दिन देख पाता।" द्रष्टारहित होकर देखने का अर्थ है, 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच मौजूद अन्तराल से मुक्त होकर देखना। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आप जिस चीज को देख रहे हैं उससे अपना तादात्म्य स्थापित करें।

इस प्रकार यदि आप एक पेड़ को, एक वादल को, जल की सतह पर झिल-मिलाते प्रकाश को, द्रष्टारहित होकर देख सकते हैं तथा—दूसरी चीज जो इससे भी अधिक कठिन है एवं जिसके लिए परम होश और सावधानी चाहिए—यदि आप स्वयं अपने आपको बिना किसी प्रतिमा, निष्कर्ष, निर्णय, मत, अच्छाई और बुराई के, जो प्रायः 'द्रष्टा' के चारों ओर केन्द्रित रहते हैं, देख सकते हैं, तो आप पायेंगे कि मन अर्थात् मस्तिष्क असाधारण रूप से शान्त हो जाता है। और यह शान्ति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे आप पैदा कर सकें; यह स्वतः घटित होती है। यह तव घटित होती है जव आप सजग और सावधान होते हैं, जव आप हर समय निरीक्षण करने में समर्थ होते हैं—अर्थात् अपनी भावभंगिमाओं का निरीक्षण करना तथा अपने शब्दों, अपनी भावनाओं, अपनी अनुभूतियों और अपने चेहरे एवं अन्य अंगों की गति का निरीक्षण करना। और इनको सुधारने की चेष्टा न करें अन्यथा असंगति और विरोध पैदा होंगे। यदि आप सिर्फ इनका निरीक्षण करते रहें, तो यह निरीक्षण स्वयं इनमें परिवर्तन ले आता है।

अतः मौन का आगमन तभी होता है जव गहरी सावधानी होती है, न केवल चेतन मन के तल पर वल्कि चेतना के गहरे तलों पर भी। स्वप्न और नींद अत्यन्त महत्वपूर्ण चीजें हैं। यह ध्यान का ही अंग है कि हम नींद में भी जागरूक बने रहें, तथा जव मन और शरीर, अर्थात् यह सम्पूर्ण अवयव संस्थान, सो रहा हो उस समय भी हम सजग और सावधान वने रहें।

कृपया आप वक्ता की वातों को आँख मूँदकर स्वीकार न कर लें। वक्ता आपका शिक्षक और गुरु नहीं है, और न ही उसकी कोई सत्ता है। यदि आप उसे एक सत्ता का रूप देने की कोशिश कर रहे हैं, तो आप उसका और अपना सत्यानाश कर रहे हैं।

जैसा हमने कहा : ध्यान का अर्थ है मन का खाली और शून्य हो जाना—न केवल चेतन मन का वल्कि मन के उस अप्रकट हिस्से का भी खाली हो जाना जिसे अचेतन

कहा जाता है। अचेतन उतना ही तुच्छ और बेतुका है जितना कि चेतन। नींद के दौरान विभिन्न प्रकार के सतही स्वप्न आते हैं, जिन पर सोचना भी बेकार है—अर्थात् ऐसे स्वप्न जिनका बिलकुलही अर्थ नहीं है। मैं समझता हूँ कि आपको इन सब की जानकारी है। तब कुछ ऐसे भी स्वप्न हैं जिनका अर्थ है, और इस अर्थ को स्वप्न देखते समय ही समझा जा सकता है। यह तभी सम्भव है यदि आप दिन भर सावधान और होशपूर्ण हैं तथा अपने विचारों, अपने प्रयोजनों, अपनी भावनाओं एवं महत्वाकांक्षाओं की प्रत्येक गति का निरीक्षण कर रहे हैं। आप जिस चीज का निरीक्षण कर रहे हैं, यदि उसका सुधार करने की कोशिश न करें, तो निरीक्षण की यह क्रिया आपके लिए थकावट और ऊब पैदा नहीं करती है। परन्तु जब आप ऐसा कहने लगते हैं, "यह कदापि नहीं होना चाहिए; वह होना ही चाहिए", तो आप जल्दी ही थक जाते हैं और ऊब जाते हैं। परन्तु यदि आप दिन भर चुनावरहित रूप से सजग हैं तथा बिना किसी पसन्द और नापसन्दगीके निरीक्षण कर रहे हैं तो नींद की अवस्था में जब कोई अर्थपूर्ण स्वप्न आता है, तो उसी क्षण स्वप्न में घटित होती हुई क्रिया का अर्थ आपकी समझ में आ जाता है। यदि आप यह सब कर लेते हैं, तो निद्रावस्था में मन असाधारण रूप से जागरूक हो जाता है और तब आपको स्वप्नों के किसी विश्लेषक के पास नहीं जाना पड़ता। मन की वह जागरूकता एक ऐसी चीज को देखती है जिसे चेतन मन कभी नहीं देख सकता। अतः मौन कोई ऐसी चीज नहीं है जिसका आप अभ्यास कर सकते हैं या जिसकी आप साधना कर सकते हैं। जब आप जीवन के आरम्भ को, इसके सम्पूर्ण ढाँचे को तथा जीने की प्रक्रिया को समझ जाते हैं तभी इस मौन का जन्म होता है।

समाज का ढाँचा तथा इसमें व्याप्त अन्याय, भयावह नैतिकता, मनुष्यों के बीच विभाजन, युद्ध तथा स्नेह और प्रेम का नितांत अभाव जो संसार के सर्वनाश का कारण है—हमें इस सब को बदलना होगा। यदि आपका 'ध्यान' सिर्फ एक व्यक्तिगत मामला है, अर्थात् एक ऐसी चीज, जिसमें आप व्यक्तिगत तौर पर आनन्द लेते हैं, तो यह ध्यान नहीं है। ध्यान का निहितार्थ है : मन और हृदय का सम्पूर्ण आमूल परिवर्तन। यह तभी सम्भव है जब आंतरिक मौन का एक गहन बोध हो, और यही धार्मिक मन को जन्म देता है। ऐसा मन 'उसे' जानता है जो परम पुनीत और पवित्र है।

प्रश्नकर्ता : हम यह पूर्ण परिवर्तन कैसे कर सकते हैं ?

कृष्णमूर्ति : महाशय, क्या ज्ञान एक समग्र क्रांति को जन्म दे सकता है ? क्या अतीत—जो कि ज्ञान है—मन की गुणवत्ता में एक पूर्ण परिवर्तन ला सकता है ? अथवा क्या अतीत से मुक्ति होनी चाहिए ताकि मन सतत क्रांति में रहे अर्थात् परिवर्तन की सतत गति में रहे ? समस्त ज्ञान, अनुभव और स्मृति का केन्द्र 'द्रष्टा' में ही निहित है। कृपया इसे स्वीकार मत करें बल्कि स्वयं इसका निरीक्षण करें। प्रत्येक व्यक्ति के

भीतर अहंकार की एक नियंत्रक और निर्णायक सत्ता है, जो कहती है, "यह सही है, वह गलत है; यह अच्छा है, वह बुरा है; मुझे यह करना चाहिए; मुझे वह कदापि नहीं करना चाहिए।" इत्यादि। यही नियंत्रक और निर्णायक सत्ता देखने का काम करती है। यह सत्ता 'द्रष्टा' बन जाती है और यह स्वयं को 'दृश्य' से पृथक् कर लेती है। यह द्रष्टा सदा अतीत यानी पुराना है, और 'जो है' सदा नया और परिवर्तनशील है। जब तक 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच विभाजन कायम है, तब तक आत्यंतिक क्रांति सम्भव नहीं है, तब तक सदा भ्रष्टता मौजूद रहेगी। आप देख सकते हैं कि फांसीसी या साम्यवादी क्रांति ने क्या किया है—भ्रष्टता इन सभी में प्रवेश कर जाती है; और ऐसा सदा होता रहा है। जब तक इस विभाजन का अस्तित्व है तब तक अच्छाई सम्भव नहीं है। तब आप पूछेंगे, "इस विभाजन का अन्त कैसे होगा ?" 'द्रष्टा' जो ज्ञान के रूप में हमारा संगृहीत अतीत है—इसका अन्त कैसे हो सकता है ? इसका अन्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जब आप यांत्रिक रूप से कार्य करते हैं तो आपको 'द्रष्टा' की आवश्यकता होती है। जब आप कार्यालय, कारखाना या प्रयोगशाला जाते हैं तो आपको ज्ञान की आवश्यकता होती है। परन्तु यही ज्ञान जब नियंत्रक और निर्णायक सत्ता से बँध जाता है, जो लोभी और महत्त्वाकांक्षी है, तो यह ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है तब वह नियंत्रक और निर्णायक सत्ता भ्रष्टाचार के लिए इस ज्ञान का उपयोग करती है। यह अत्यंत सीधी-सी बात है।

जब इसकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है, तो 'द्रष्टा' का अन्त हो जाता है। यह समय की बात नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं कि 'द्रष्टा' का क्रमशः अन्त होगा। हमारी संस्कारबद्धता हमें इस तरह सोचने को बाध्य करती है कि हम क्रमशः 'द्रष्टा' से छुटकारा पा लेंगे; धीरे-धीरे हम अहिंसक हो जायेंगे। परन्तु इसी बीच हम हिंसा के बीज बोते रहते हैं।

अतः जब आप अत्यंत साफ-साफ अवलोकन करते हैं कि द्रष्टा—अर्थात् अहं, यानी 'मैं'—किस तरह प्रत्येक चीज को विभाजित और विकृत करता है, तो अवलोकन की उस कौंध में ही 'द्रष्टा' का लय और लोप हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : **क्या इस जीवन में सतत संगति और सामंजस्य का होना सम्भव है ?**

कृष्णमूर्ति : सतत संगति और सामंजस्य इस जीवन में एक विसंगति और विरोध है। इसे सतत होना चाहिए—इस तरह का विचार और ख्याल ही किसी नयी चीज की खोज में बाधा बन जाता है। जहाँ अन्त है, वहीं एक नया आरम्भ है। अतः सतत संगति और सामंजस्य पाने की इच्छा एक विसंगति है। आप संगति और सामंजस्य में हैं—पूर्ण विराम। परंतु हम 'होना' शब्द के गुलाम हैं। जिस चीज को आप संगति

और सामंजस्य कहते हैं यदि उसका सातत्य है, तो यह असंगति और असामंजस्य है। अतः, महाशय, किसी चीज के सातत्य की कामना न करें। आप चाहते हैं कि अपनी पत्नी के साथ आपका सम्बन्ध सतत बना रहे—सुखद, सुन्दर और मधुर सम्बन्ध कायम रहे। और ऐसा कभी नहीं होता है। प्रेम ऐसी चीज नहीं है जिसका सम्बन्ध समय से हो। अतः स्वयं को लोभी मत बनने दें। संगति और सामंजस्य ऐसी चीज नहीं है जो सतत कायम रह सके। यदि यह चीज सतत कायम रहती है तो यह यांत्रिक हो जाती है। ऐसा मन जो संगति और सामंजस्य में है, वह तो बस 'है'—न कि वह 'होगा' या 'था'। ऐसा मन, जिसे संगति और सामंजस्य का बोध है, कभी यह प्रश्न नहीं करता, "क्या कल भी यह मेरे पास रहेगा ?"

प्रश्नकर्ता : **महाशय, मन की शाब्दिक अन्तर्वस्तु के साथ चीजें किसी तरह जुड़ी हुई हैं ?**

कृष्णमूर्ति : यह अत्यन्त सरल चीज है। जब हम समझ जाते हैं कि शब्द ही वस्तु विशेष नहीं है, वर्णन ही वर्णित वस्तु नहीं है, किसी चीज की व्याख्या स्वयं वह चीज नहीं है, तो मन शब्द से मुक्त हो जाता है। यदि आपने अपने मन में अपने बारे में एक प्रतिमा बना रखी है, तो यह प्रतिमा विचार एवं शब्दों से जुड़कर बनी है—विचार ही शब्द है। आप स्वयं को बड़ा, छोटा, चालाक, बुद्धिमान या कुछ और समझते हैं—इस प्रकार आपने अपने बारे में एक प्रतिमा बना रखी है। इस प्रतिमा का वर्णन किया जा सकता है, यह वर्णन का परिणाम है। और यह प्रतिमा विचार का ही सृजन है। परन्तु क्या वर्णन और प्रतिमा मन के ही हिस्से हैं ? मन की अंतर्वस्तु का स्वयं मन के साथ क्या सम्बन्ध है ? क्या अंतर्वस्तु स्वयं मन है ? महाशय, क्या यही प्रश्न है ? निश्चय ही यही प्रश्न है। फर्नीचर, पुस्तकें, लोगों की उक्तियाँ, आपके पूर्वाग्रह, आपके संस्कार, आपके भय—यदि यही सब आपके मन की अंतर्वस्तु है, तो यही आपका मन है। यदि मन कहता है कि आत्मा है, ईश्वर है, नरक है, स्वर्ग है, राक्षस है, तो यही सब मन की अंतर्वस्तु है। मन की अंतर्वस्तु ही मन है। यदि मन इन सब से स्वयं को खाली कर सके तो फिर यह एक सर्वथा भिन्न चीज है। तब मन बिलकुल नयी चीज है और इसलिए यह अमर है।

प्रश्नकर्ता : **उस व्यक्ति का क्या लक्षण है जिसने सजगता विकसित करना शुरू कर दिया है ?**

कृष्णमूर्ति : मुझे खेद है कि मैं थोड़ा मजाक में उत्तर देना चाहता हूँ—वैसा व्यक्ति लाल झंडा फहराते हुए नहीं चलता है। महाशय, जैसा हमने पहले कहा, यह कोई विकास की बात नहीं है, यह धीरे-धीरे बढ़ाने की चीज नहीं है। किसी चीज

को समझने के लिए क्या समय की जरूरत है ? वैसे मन की क्या अवस्था है जो कहता है कि मैंने समझ लिया है—शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि समग्र रूप से ? ऐसा वह कब कहता है ? मन ऐसा तभी कहता है जब वह उस चीज के प्रति वस्तुतः पूर्ण रूप से सजग और सावधान होता है जिसे यह देख रहा है। उस क्षण सजग और सावधान होने के कारण ही इसने उस चीज को समझ लिया है। अतः यह समय की बात नहीं है।

प्रश्नकर्ता : **चारों ओर इतना अधिक दुःख है; करुणा उपलब्ध करके कोई व्यक्ति शान्तिपूर्वक कैसे जी सकता है ?**

कृष्णमूर्ति : क्या आप सोचते हैं कि आप संसार से भिन्न हैं ? क्या आप संसार नहीं हैं ? आपने ही अपनी महत्वाकांक्षा, अपने लोभ, अपनी आर्थिक सुरक्षा तथा अपने युद्ध द्वारा इस संसार का निर्माण किया है। अपने भोजन के लिए पशुओं का उत्पीड़न, युद्ध पर पैसों का अपव्यय, सही शिक्षा का अभाव—ऐसे संसार का निर्माण आपके ही द्वारा हुआ है, और यह आपका हिस्सा है। अतः आप संसार हैं और संसार आप है। संसार और आपके बीच कोई विभाजन नहीं है। आप पूछते हैं, "जब संसार दुःख भोग रहा हो, तो आपके पास शान्ति कैसे हो सकती है ?" जब आप दुःख भोग रहे हैं तो आपके पास शान्ति कैसे हो सकती है ? यही प्रश्न है, क्योंकि आप ही संसार हैं। आप सारे संसार का भ्रमण कीजिए, लोगों से बात कीजिये, चाहे वे प्रसिद्ध और बुद्धिमान लोग हों या अशिक्षित और अनपढ़ लोग, किन्तु वे सभी एक विकट समय से गुजर रहे हैं—आपकी ही तरह। अतः प्रश्न यह नहीं है कि जब संसार दुःख भोग रहा हो तो आपको शान्ति कैसे मिल सकती है। आप दुःख भोग रहे हैं और इसलिए संसार दुःख भोग रहा है अतः आप अपने दुःख का अन्त कर लीजिए, यदि आप इसका अंत करना जानते हैं। दुःख और इससे जुड़ी आत्मदयनीयता का अंत तभी होता है जब कोई व्यक्ति स्वयं को जान लेता है। आप कहेंगे, "जिस व्यक्ति ने स्वयं को अपने दुःख से मुक्त कर लिया है, वह क्या कर सकता है; इस संसार में उस व्यक्ति का क्या मूल्य है ?" ऐसे प्रश्न का कोई मूल्य नहीं है। यदि आपने स्वयं को दुःख से मुक्त कर लिया है—पता नहीं, इसके अर्थ को आप समझ रहे हैं या नहीं—और कोई व्यक्ति कहता है कि दुःख से भरे इस संसार में ऐसे व्यक्ति का क्या मूल्य है, तो यह एक गलत प्रश्न है।

प्रश्नकर्ता : **पागलपन क्या है ?**

कृष्णमूर्ति : ओह, यह अत्यन्त साफ और स्पष्ट है। क्या हममें से अधिकांश लोग विक्षिप्त नहीं हैं ? हममें से अधिकांश लोग थोड़े असंतुलित हैं। हममें से अधिकांश व्यक्तियों के पास अजीबोगरीब विश्वास और धारणाएँ हैं। एक बार हमारी बातचीत एक अत्यन्त श्रद्धालु कैथलिक ईसाई से हो रही थी, और वह कह रहा था, "ये हिन्दू

सबसे ज्यादा अंधविश्वासी, कट्टर और विक्षिप्त लोग हैं। ये बहुत-सी असामान्य चीजों में विश्वास करते हैं।" वह अपनी असामान्यताओं, विश्वासों और नासमझियों के प्रति बिलकुल बेखबर था। अतः संतुलित कौन है ? स्पष्टतः वही व्यक्ति, जिसके पास कोई भय नहीं है, और जो समग्र है। समग्र का अर्थ है, जो स्वस्थचित्त, विवेकशील और पवित्र है। परन्तु हम ऐसे नहीं हैं। हम टूटे हुए और खंडित लोग हैं, अतः हम असंतुलित हैं। जब हम पूर्णतः समग्र हो जाते हैं तभी संतुलन का जन्म होता है। इसका अर्थ है, एक ऐसा मन जो स्वस्थ, साफ और स्पष्ट हो, जिसके पास कोई पूर्वाग्रह न हो—ऐसे मन के पास ही अच्छाई है। (करतल-ध्वनि)। कृपया तालियाँ न बजायें, आपकी वाहवाही का मेरे लिए कोई मूल्य नहीं है। मेरा यही मंतव्य है। यदि आपने इसे स्वयं देखा है और इसलिए समझा है, तो तालियाँ बजाने की जरूरत नहीं है; क्योंकि जो कुछ आपने समझ लिया, वह अब आपका हो गया। बुद्धत्व का आगमन दूसरे द्वारा नहीं होता, इसका आगमन स्वयं आपके अवलोकन एवं स्वयं की समझ से ही होता है।

लंदन
मई ३०, १९७०



खण्ड ४



११

संस्कारमुक्त मन

"जो मन मुक्ति के एक साधन के रूप में ज्ञान में जकड़ा हुआ है, वह उस मुक्ति तक पहुंच नहीं पाता।"

क्या मन को संस्कारमुक्त करना सम्भव है? यदि आप जरा भी गम्भीर हैं तो यह आपके लिए अत्यन्त मौलिक प्रश्नों में से एक है। ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य अत्यन्त गहरे रूप से संस्कारबद्ध है—चाहे वह संसार के जिस भाग में रह रहा हो तथा उसकी संस्कृति और सामाजिक नैतिकताएँ चाहे जो भी हों। वह खास ढंग से ही सोचता-विचारता है और बँधे-बँधाये ढाँचों के अनुसार ही कार्य करता है। अतीत की पृष्ठभूमि से ही वह वर्तमान से जुड़ता है। उसने वृहत् ज्ञान का संवर्द्धन कर लिया है तथा लाखों वर्ष का अनुभव उसके पास है। इन सभी चीजों ने उसे संस्कारबद्ध किया है, जैसे—शिक्षा, संस्कृति, सामाजिक नैतिकता, प्रचार, धर्म—और इन चीजों की ओर उसकी एक खास प्रतिक्रिया होती है, जो उसके किसी न किसी संस्कार का ही उत्तर है।

संस्कारबद्धता के पूरे आशय और अभिप्राय को समझने के लिए आपके पास पर्याप्त सावधानी होनी चाहिए ताकि आप देख सकें कि यह किस तरह लोगों को राष्ट्र, धर्म, समाज और भाषा के स्तर पर विभाजित करती है। ये विभाजन एक प्रचण्ड बाधा हैं तथा ये द्वन्द्व, संघर्ष और हिंसा को जन्म देते हैं। यदि आप पूर्णतः शान्ति और सृजनात्मकता के साथ जीना चाहते हैं, तो आपको इस संस्कारबद्धता को समझना होगा, जो न केवल सतही और ऊपरी तौर पर मौजूद है बल्कि जो गहरे और गुप्त रूप से भी मौजूद है। क्या संस्कारबद्धता के पूरे ढाँचे को उजागर और उद्घाटित किया जा सकता है? यदि हाँ, तो इसके पार जाने के लिए आपको क्या करना होगा?

यदि आप अवलोकन करते हैं कि आप संस्कारबद्ध हैं, और आप कहते हैं कि मैं सम्भवतः मन को संस्कारमुक्त कभी नहीं कर सकता, तो आप सम्भावना का अन्त कर देते हैं। यदि आप इस सिद्धान्त के साथ आरम्भ करते हैं कि व्यक्ति कभी भी संस्कारमुक्त नहीं होगा, तो सारी जांच-पड़ताल यहीं रुक जाती है, आप अपने प्रतिरोध द्वारा समस्या का उत्तर देते हैं और वह यहीं खत्म हो जाती है; तब आप अपनी संस्कारबद्धता को और भी अधिक सजाने-सँवारने का काम कर सकते हैं। परन्तु यदि आप इसकी गहराई में जाकर पूरी समस्या से अवगत हो जायें, तो आपको क्या करना

होगा ? यदि यह एक अत्यधिक गम्भीर चुनौती है जिसकी आप उपेक्षा नहीं कर सकते, तो आप इसका उत्तर कैसे देंगे ? यदि यह चुनौती आपके जीवन में प्रचण्ड रूप से जीवन्त और महत्वपूर्ण है, तो इसकी ओर आपका क्या उत्तर है ?

यदि आपने अपनी संस्कारवद्धता का पता लगा लिया है, तो आपके अवलोकन का क्या ढंग है ? क्या आपने स्वयं इसका अवलोकन किया है अथवा किसी ने इसके सम्बन्ध में आपको बताया है ? यह वस्तुतः एक विलकुल ही महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए। यदि किसी ने आपको इस सम्बन्ध में बताया है और आप कहते हैं, "हाँ, मैं संस्कारवद्ध हूँ", तो आप सिर्फ एक सुझाव का उत्तर दे रहे हैं। यह वास्तविक नहीं है, यह एक शाब्दिक धारणा है जिससे आप सहमत हैं और इसलिए आपने इसे स्वीकार कर लिया है। परन्तु इससे विलकुल ही भिन्न है वह स्थिति जब आप स्वयं संस्कारवद्धता का पता लगाते हैं—तब यह एक प्रचण्ड रूप से जीवन्त चुनौती बन जाती है, और आपके पास वह आवेग एवं उत्कटता होती है, जिससे कि आप इससे बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ सकें।

क्या आपने यह पता लगाया है कि आप संस्कारवद्ध हैं, क्योंकि आपने इस बात की खोजबीन, छानवीन और जाँच-पड़ताल की है ? यदि हाँ, तो किसने यह पता लगाया है ? क्या एक द्रष्टा, विश्लेषक या जाँचकर्ता, जो संसार में संस्कारवद्धता के कारण उत्पन्न सारे पागलपन और गड़बड़ी का अवलोकन एवं विश्लेषण कर रहा है तथा उसकी जाँच-पड़ताल कर रहा है ? वह 'कौन' है जिसने अवलोकन द्वारा संस्कार-वद्धता के ढाँचे की तथा इसके परिणाम की खोज की है ? बाह्य और आन्तरिक रूप से अवलोकन करने पर क्या घटित होता है ? द्वन्द्व, संघर्ष, युद्ध, दुःख, स्वयं के भीतर और बाहर अशान्ति एवं अव्यवस्था—अत्यन्त ध्यानपूर्वक इन सब का अवलोकन करने पर, जो सारे संसार में हो रहा है, मैंने यह पता लगाया है कि मैं संस्कारवद्ध हूँ, और मैंने इस संस्कारबद्धता के परिणामों की भी खोज की है। अतः यहाँ एक 'द्रष्टा' है जिसने पता लगाया है कि वह संस्कारवद्ध है। यहाँ यह प्रश्न उठता है : क्या 'द्रष्टा' स्वयं उस चीज से भिन्न है जिसको उसने खोज की है तथा जिसका उसने अवलोकन किया है ? अर्थात् क्या खोजी गयी वस्तु खोजकर्ता से अलग है ? यदि यहाँ अलगाव है, तो न केवल विभाजन पैदा होगा बल्कि इस बात का द्वन्द्व और संघर्ष पैदा होगा कि इस संस्कारवद्धता पर कैसे विजय प्राप्त की जाय, स्वयं को इससे कैसे मुक्त किया जाय, इस दिशा में कौन-सा कदम उठाया जाय, इत्यादि। आपको सर्वप्रथम यह पता लगाना होगा कि क्या यहाँ दो पृथक् गति और वस्तुओं का अस्तित्व है—'द्रष्टा' और 'दृश्य' ? क्या ये दोनों पृथक हैं ? अथवा क्या 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है ? यह स्वयं पता लगाना अत्यावश्यक है। यदि आप इसका पता लगा लेते हैं, तो आपके

सोचने-विचारने के पूरे ढंग में एक पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। यह एक अत्यन्त मूलभूत खोज है, जिसके फलस्वरूप नैतिकता के ढाँचे का तथा ज्ञान के सातत्य का आपके लिए तब एक भिन्न अर्थ होगा। अब आप यह पता लगाइये कि आपने स्वयं यह खोज की है अथवा आपने दूसरे द्वारा कहे गये तथ्य को स्वीकार कर लिया है। यदि यह स्वयं आपकी खोज है, तो यह प्रचण्ड ऊर्जा को निर्मुक्त करती है, जिस ऊर्जा का अपव्यय पहले 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के विभाजन में होता था।

क्रिया में कायम रखा गया ज्ञान का सातत्य वस्तुतः ऊर्जा का अपव्यय है—ज्ञान, जो मनोवैज्ञानिक संस्कार है। 'द्रष्टा' द्वारा ही ज्ञान का संग्रह किया गया है, और द्रष्टा उस ज्ञान का उपयोग क्रिया में करता है, परन्तु वह ज्ञान क्रिया से विभाजित और पृथक् है, अतः यहाँ द्वन्द्व पैदा होता है। और जो सत्ता इस ज्ञान का स्वामी है—जो अनिवार्यतः उसका संस्कार है—वह 'द्रष्टा' है। आपको स्वयं इस बुनियादी सिद्धांत की खोज करनी चाहिए। यह इस अर्थ में सिद्धान्त नहीं है कि इसे नियत और निर्धारित किया गया है, बल्कि यह एक ऐसी वास्तविकता है जिस पर कभी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता।

उस मन के साथ क्या घटित होता है जिसने इस सरल तथ्य एवं सत्य को खोज लिया है कि 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है—मनोवैज्ञानिक अर्थों में इस खोज के बाद मन की गुणवत्ता के साथ क्या घटित होता है—वह मन जो शरीर से पृथक् आत्मा आदि की अपनी धारणा द्वारा इतने दिनों से संस्कारबद्ध रहा है? यदि, यह खोज मुक्ति की ओर द्वार नहीं खोलती है, तो इसका कोई अर्थ नहीं है, यह फिर एक दूसरा बौद्धिक विश्वास और धारणा ही है, जो आपको कहीं नहीं ले जायेंगे। परन्तु यदि यह एक सच्ची खोज है तथा एक सच्ची वास्तविकता है, तो वहाँ मुक्ति और स्वतन्त्रता होनी ही चाहिए। इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि आप जो चाहें सो करें; न ही यह कुछ बनने की, निर्णय करने की, परितुष्टि पाने की अथवा अपनी पसन्द के अनुसार सोचने और कार्य करने की स्वतन्त्रता है।

क्या एक स्वतन्त्र और मुक्त मन चुनाव करता है? चुनाव का अर्थ है यह और वह के बीच निर्णय; लेकिन प्रश्न यह है कि चुनाव की जरूरत ही क्या है? महाशय, कृपया इन्हें शाब्दिक वक्तव्यों की तरह न लें, आपको इनकी जाँच करनी होगी, इन्हें प्रतिदिन जीना होगा और तभी आपको इनके सौन्दर्य एवं आवेग का तथा इनकी तेजस्विता एवं तीव्रता का बोध होगा। चुनाव का निहितार्थ है निर्णय; निर्णय इच्छाशक्ति की क्रिया है। अब प्रश्न यह है: वह कौन-सी सत्ता या हस्ती है जो 'यह' अथवा 'वह' करने के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग करती है? कृपया इसे सावधानीपूर्वक समझने की कोशिश करें। यदि 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है तो वहाँ किसी भी निर्णय की आवश्यकता ही

क्या है ? जहाँ मनोवैज्ञानिक तल पर किसी भी तरह का निर्णय है—जो चुनाव पर निर्भर है—तो वह एक ऐसे मन का संकेत करता है जो भ्रमित है। ऐसा मन जो बिल्कुल साफ-साफ और स्पष्टतापूर्वक देखता है वह चुनाव नहीं करता, उसके लिए केवल क्रिया शेष रह जाती है—स्पष्टता का अभाव वहीं उत्पन्न होता है जहाँ 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच विभाजन है।

प्रश्नकर्ता : **तथ्यपरक दृष्टि से देखा जाय, तो यह चुनाव और निर्णय अपरिहार्य हैं—क्या, नहीं ?**

कृष्णमूर्ति : निश्चय ही मैं लाल कपड़े और भूरे कपड़े के बीच चुनाव करूँगा। परन्तु मैं यहाँ मनोवैज्ञानिक चुनाव की बात कर रहा हूँ।

यदि आप चुनाव के प्रभावों को तथा विभाजन और निर्णय के प्रभावों को समझ जायें, तो चुनाव करना एक बिल्कुल ही तुच्छ मामला हो जाता है। उदाहरणार्थ, इस संसार में मेरा पालन-पोषण एक हिन्दू या ईसाई के रूप में हुआ है, परन्तु मैं असन्तुष्ट एवं भ्रमित हूँ, तो मैं किसी और धर्म का 'चुनाव' करता हूँ एवं उसके संगठन में कूद पड़ता हूँ। किन्तु जब मैं किसी विशेष धार्मिक संस्कृति की तथा इससे जुड़ी संस्कारबद्ध मानसिकता की जाँच-पड़ताल करता हूँ, तो मैं देखता हूँ कि यह सब प्रचार का परिणाम है, यह स्वीकृत विश्वासों की एक शृंखला है, जिनका जन्म भय एवं मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की माँग से हुआ है; चूँकि आन्तरिक रूप से व्यक्ति दुःखी, दयनीय, अपर्याप्त और अनिश्चित है, अतः वह किसी ऐसी चीज की आशा लगाता है जो सुरक्षा और निश्चितता प्रदान कर सके। तो जब एक धर्म मेरे लिए बेकार हो जाता है, तब सुरक्षा की तलाश में मैं दूसरे धर्म की शरण में चला जाता हूँ; परन्तु यही चीज वहाँ भी है, फर्क है तो केवल नाम का—'अ' की जगह 'ब'। जब मन इसे साफ-साफ देख लेता है तो सारी स्थिति इसकी समझ में स्पष्ट हो जाती है, और इसे चुनाव की आवश्यकता नहीं रहती। तब 'इच्छाशक्ति' पर आधारित समस्त क्रियात्मक उत्तर का पूर्णतः अन्त हो जाता है। इच्छाशक्ति में प्रतिरोध निहित है, जो अलगाव का ही एक रूप है; ऐसा मन जो अलग-थलग है, वह मुक्त मन नहीं है।

जो मन मुक्ति के एक साधन के रूप में ज्ञान के अर्जन में लीन और लिप्त है वह उस मुक्ति तक पहुँच नहीं पाता। जीवन में ज्ञान इतना असाधारण महत्व की चीज क्यों हो गया है ? ज्ञान का अर्थ है विभिन्न क्षेत्रों में दूसरे लोगों द्वारा की गयी खोजों का संचित अनुभव, तथा निजी अवलोकन और प्रयास द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान। मुक्ति में ज्ञान का क्या स्थान है ? ज्ञान का सम्बन्ध सदा अतीत से है। जब आप कहते हैं कि मैं जानता हूँ, तो इसका निहितार्थ है कि आप जान चुके हैं। ज्ञान किसी भी तरह का हो—वैज्ञानिक, व्यक्तिगत सामुदायिक— इसका सम्बन्ध सदा अतीत से ही है; और जैसा कि मनुष्य का मन अतीत का परिणाम है, अतः क्या यह कभी मुक्त हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : **आत्मज्ञान के बारे में आपका क्या कहना है ?**

कृष्णमूर्ति : पहले आप यह देखिये कि मन ज्ञान का संग्रह कैसे करता है। फिर आप यह देखिये कि कहाँ ज्ञान आवश्यक है और कहाँ यह मुक्ति के मार्ग में बाधा है। जाहिर है कि कोई भी काम करने के लिए आपके पास ज्ञान होना ही चाहिए—एक कार चलाने के लिए, कोई भाषा बोलने के लिए, कोई तकनीकी कार्य करने के लिए—आपके पास पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, और यह जितना ही कार्यसाधक, वस्तुपरक और अवैयक्तिक हो, उतना ही अच्छा। परन्तु हम यहाँ उस ज्ञान की बात कर रहे हैं जो हमें मनोवैज्ञानिक रूप से संस्कारबद्ध कर देता है।

'द्रष्टा' ही ज्ञान का भण्डार है। अतः 'द्रष्टा' अतीत की उत्पत्ति है। 'द्रष्टा' वह नियन्त्रक सत्ता है जो संगृहीत ज्ञान से ही अपना सारा फैसला और निर्णय करता है; और यह कार्य वह स्वयं को ही ध्यान में रखकर करता है। मनोवैज्ञानिकों से स्वयं के बारे में जानकारी प्राप्त कर वह यह सोचने लगता है कि उसने स्वयं को जान लिया है और इसी ज्ञान से वह सदा स्वयं को देखता है। इस कारण वह स्वयं को कभी ताजा आँखों से नहीं देखता। वह कहता है, "मुझे पता है, मैंने स्वयं को देखा है, मेरे कुछ हिस्से तो असाधारण रूप से अच्छे हैं, परन्तु अन्य हिस्से दरअसल भयानक हैं।" इस तरह वह पहले ही निर्णय कर चुका है; और वह स्वयं के बारे में कभी किसी नयी चीज का पता नहीं लगाता, क्योंकि वह स्वयं का अवलोकन 'द्रष्टा' बनकर करता है; और इस तरह वह स्वयं 'द्रष्टा' और 'दृश्य' में विभाजित हो जाता है। अपने सारे सम्बन्धों में हम हर समय यही कर रहे हैं। हमारा सम्बन्ध किसी व्यक्ति से हो या किसी वस्तु से, यह हमारी इस इच्छा पर आधारित है कि हम अपने लिए एक ऐसा स्थान प्राप्त करें जहाँ हम पूर्णतः सुरक्षित और निश्चित हो सकें। हम इस सुरक्षा की खोज ज्ञान में करते हैं; और इस ज्ञान का स्वामी वह विचारकर्ता, अनुभवकर्ता और 'द्रष्टा' है, जो स्वयं को सदा 'दृश्य' से पृथक् रख रहा है।

ज्ञान के संग्रह में प्रज्ञा का अस्तित्व नहीं है। ज्ञान का संग्रह एक स्थिर और गतिहीन प्रक्रिया है–आप ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं, किन्तु इसका अंतर्भाग सदा स्थिर और गतिहीन रहता है। इसी स्थिर और गतिहीन संग्रह से व्यक्ति जीता है, कार्य करता है, चित्रकारी और लेखन करता है, अर्थात् वह संसार में सारा उपद्रव करता है, और इसे ही वह स्वतंत्रता और मुक्ति के नाम से पुकारता है। अतः क्या मन ज्ञान और 'ज्ञात' से मुक्त हो सकता है ? यह वस्तुतः एक अत्यंत असाधारण प्रश्न है, यदि आप इसे मात्र बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वस्तुतः अतिशय गहराई से पूछें–क्या मन कभी 'ज्ञात' से मुक्त हो सकता है ? अन्यथा कोई सृजन सम्भव नहीं है; अन्यथा इस पृथ्वी पर कोई नयी चीज सम्भव नहीं है–जो भी है वह पुनर्निर्मित का ही पुनर्निर्माण और सुधार है।

आपको यह पता लगाना होगा, 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच यह विभाजन क्यों है, और क्या मन इस विभाजन के पार जा सकता है ताकि यह 'ज्ञात' से मुक्त होकर एक सर्वथा भिन्न आयाम में कार्य करने लगे ? इसका अर्थ है कि आवश्यकता होने पर प्रज्ञा ज्ञान का उपयोग करेगी और फिर भी यह ज्ञान से मुक्त रहेगी।

प्रज्ञा का निहितार्थ है मुक्ति, और मुक्ति का निहितार्थ है समस्त द्वंद्व की समाप्ति। प्रज्ञा का पदार्पण और द्वंद्व का अंत तभी होता है जब 'द्रष्टा' और 'दृश्य' एक हो जाते हैं, क्योंकि तब कोई विभाजन नहीं रह जाता। और जहाँ प्रज्ञा है वहीं प्रेम है। यह 'प्रेम' शब्द इतनी बुरी तरह बोझिल है कि इसका प्रयोग करते हुए हिचकना पड़ता है—प्रेम का सम्बन्ध सुख से, कामवासना से, भय से, ईर्ष्या से, निर्भरता से एवं लालसा और लिप्सा से जोड़ दिया गया है। जो मन मुक्त नहीं है वह प्रेम का अर्थ नहीं जानता है—वह भले ही सुख को जानता हो और इसलिए भय को भी, परन्तु ये प्रेम कदापि नहीं हैं।

प्रेम का प्रादुर्भाव तभी हो सकता है जब ज्ञान के रूप में कार्यरत अतीत से पूर्ण मुक्ति हो। क्या यह कभी सम्भव है ? मनुष्य ने विभिन्न ढंग से ज्ञान की क्षणभंगुरता से मुक्ति पाने का प्रयास किया है। उसने सदा किसी ऐसी चीज की खोज की है जो ज्ञान एवं विचार के उत्तर से परे हो, और अपनी इसी खोज में उसने 'ईश्वर' नाम की प्रतिमा का सृजन कर लिया है, जिसके चारों ओर इसी प्रकार की मूढ़ताएँ मौजूद हैं। परन्तु विचार की प्रतिमावली और कल्पनासृष्टि से परे किसी चीज का अस्तित्व है या नहीं, यह पता लगाने के लिए समस्त भय से मुक्ति होनी चाहिए।

प्रश्नकर्ता : **क्या आप मस्तिष्क और मन के बीच भेद कर रहे हैं, जिसमें मस्तिष्क का सम्बन्ध बुद्धि से हैं एवं मन कुछ और ही चीज है, जैसे, सजगता ?**

कृष्णमूर्ति : नहीं, मन शब्द का प्रयोग हम जिस अर्थ में कर रहे हैं वह है : स्मृति और ज्ञान के रूप में कार्यरत विचार की पूरी प्रक्रिया, जिसमें मस्तिष्क की कोशिकाएँ भी समाविष्ट हैं।

प्रश्नकर्ता : **मस्तिष्क की कोशिकाएँ भी समाविष्ट हैं ?**

कृष्णमूर्ति : स्पष्टतः। मस्तिष्क की कोशिकाओं को आप शेष मन से पृथक् नहीं कर सकते। क्या आप कर सकते हैं ? मस्तिष्क—इसका क्या कार्य है ? क्या यह एक कंप्यूटर की तरह कार्य करता है ?

प्रश्नकर्ता : **हाँ, मैं ऐसा ही समझता हूँ।**

कृष्णमूर्ति : यह एक अत्यन्त असाधारण एवं अद्भुत कंप्यूटर है, जिसका निर्माण हजारों वर्ष की अवधि में हुआ है। जीवन-अस्तित्व को कायम रखने के लिए हजारों

वर्ष के दौरान अर्जित किये गये अनुभवों का ही परिणाम है यह मस्तिष्क। वाह्य जगत में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के बारे में आपका ज्ञान कितना अधिक है, परन्तु स्वयं के बारे में ही आपका ज्ञान कितना कम है!

प्रश्नकर्ता : **क्या यह सम्भव नहीं है कि सृजन स्मृति पर निर्भर हो और इसीलिए अतीत पर भी निर्भर हो? आपने थोड़ी देर पहले कहा कि इस पृथ्वी पर वस्तुतः कुछ भी नया नहीं है।**

कृष्णमूर्ति : कम से कम आपके धर्मशास्त्रों का तो यही कहना है कि इस पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है। क्या हम सृजन को अभिव्यक्ति के साथ नहीं जोड़ रहे हैं? क्या एक सृजनात्मक व्यक्ति को अभिव्यक्ति की आवश्यकता है? कृपया इस पर सोचे-विचारें : "मैं किसी ऐसी चीज द्वारा आत्मपरितुष्टि पाना चाहता हूँ जिसे अभिव्यक्त किया जा सके" "मेरे अंदर एक ऐसा भाव है कि मैं एक कलाकार हूँ और मुझे एक चित्र बनाना चाहिए, या एक कविता लिखनी चाहिए"। परन्तु प्रश्न यह है, क्या सृजनात्मकता को अभिव्यक्ति की जरा भी आवश्यकता है? और क्या एक कलाकार की अभिव्यक्ति एक ऐसे मन को सूचित करती है जो सृजन में स्वतंत्र और मुक्त है? क्या आप प्रश्न को समझ रहे हैं? कोई व्यक्ति एक कविता लिखता है या एक चित्र बनाता है—क्या यह एक सृजनात्मक मन को सूचित करता है? सृजनात्मकता का क्या अर्थ है? अतीत की यांत्रिक पुनरुक्ति की बात नहीं कर रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता : **मैं समझता हूँ कि सृजनात्मकता के लिए अभिव्यक्ति आवश्यक है अन्यथा यह संसार नहीं होगा।**

कृष्णमूर्ति : सृजनात्मकता के लिए अभिव्यक्ति आवश्यक है? सृजनात्मकता का क्या अर्थ है? एक सृजनात्मक मन की क्या अनुभूति है?

प्रश्नकर्ता : **जब मन प्रेरित अनुभव करता है; जब यह कोई ऐसी चीज बना सकता है जो अच्छी और सुन्दर हो।**

कृष्णमूर्ति : क्या एक सृजनात्मक मन को प्रेरणा की आवश्यकता है?

क्या सृजनात्मक होने के लिए मन को मुक्त नहीं होना चाहिए—मुक्त? अन्यथा यह पुनरावर्ती होगा। इस पुनरावृत्ति में नयी अभिव्यक्तियाँ भी हो सकती हैं, परन्तु यह फिर भी पुनरावर्ती और यान्त्रिक ही है, जो मन यान्त्रिक है, क्या वह सृजनात्मक हो सकता है? मनुष्य अद्भुत कविताएँ और अद्भुत नाटक लिख सकता है, परन्तु यदि उसका मन द्वन्द्व, संघर्ष, तनाव और विक्षिप्तता की अवस्था में है, तो क्या यह सृजनात्मक हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : **इसे 'इस क्षण में' होना चाहिए न कि ....**

कृष्णमूर्ति : 'इस क्षण में' होना—इसका क्या अर्थ है? सृजनात्मक मन यान्त्रिक नहीं हो सकता। वह ज्ञान और परम्परा के समस्त भार से बोझिल नहीं हो सकता।

इसका अर्थ है एक ऐसा मन जो वस्तुतः गहन रूप से मुक्त है—भय से मुक्त। क्या यही मुक्ति नहीं है ?

प्रश्नकर्ता : परंतु फिर भी ऐसा मन सुरक्षा की खोज तो करेगा ही; यही कार्य है मस्तिष्क का।

कृष्णमूर्ति : निस्संदेह, सुरक्षा की खोज करना मस्तिष्क का कार्य है। परन्तु क्या ऐसा मन सुरक्षित है, जो राष्ट्रीयता और धार्मिक विश्वासों के रूप में स्वयं को संस्कारबद्ध कर लेता है तथा कहता है कि यह मेरा है, वह तुम्हारा है, इत्यादि ?

प्रश्नकर्ता : मुझे ऐसा लगता है कि विरोध के बिना कोई विकास नहीं होता। यह तन्त्रिका विज्ञान (Neurology) का हिस्सा है।

कृष्णमूर्ति : क्या यह सच है ?

प्रश्नकर्ता : उच्च के बिना निम्न नहीं है, अथवा विस्तीर्ण के बिना संकीर्ण नहीं है।

कृष्णमूर्ति : हम इसकी छानवीन करें। लाखों वर्ष से हमने इसी तरह तो जिया है—अच्छे और बुरे के बीच; घृणा, ईर्ष्या और प्रेम के बीच, कोमलता और क्रूरता के बीच; हिंसा और भद्रता के बीच ! और हम कहते हैं कि हमने इसे स्वीकार कर लिया है क्योंकि यह वास्तविक चीज है। क्या यही वास्तविक चीज है, उस तरह से जीने के लिए ? मन की ऐसी गुणवत्ता जो घृणा और ईर्ष्या के बीच तथा सुख और भय के बीच डोलती रहती है, क्या वह जान सकती है कि प्रेम का क्या अर्थ है ? जो मन सदा अभिव्यक्ति और परितुष्टि की खोज करता रहता है तथा जो प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित होने की कोशिश करता रहता है—जिसे हम 'कुछ होना और वनाना' कहते हैं एवं जो हमारे संस्कार और सामाजिक ढाँचे का हिस्सा है—क्या ऐसा मन सृजनात्मक हो सकता है ? जो मन निरंतर कुछ न कुछ वनने की प्रक्रिया में उलझा रहता है वह मृत्यु एवं 'अज्ञात' से भयभीत रहता है, अतः वह ज्ञात से चिपके रहता है। क्या ऐसा मन कभी सृजनात्मक हो सकता है ? क्या दवाव, तनाव और विरोध से कभी सृजन फलित हो सकता है ?

प्रश्नकर्ता : सृजनात्मकता तो कल्पना और आनन्द है।

कृष्णमूर्ति : क्या आप जानते हैं कि आनन्द का क्या अर्थ है ? क्या आनन्द सुख है ?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

कृष्णमूर्ति : आप 'नहीं' कह रहे है, परन्तु क्या आप उसी की खोज नहीं कर रहे है ? एक क्षण के लिए आपको परम आनन्द और परम आह्लाद का बोध हो सकता है, परन्तु अगले ही क्षण आप इसके बारे में सोचने लगते हैं। इस पर सोचने-विचारने से यह सुख में परिणत हो जाता है। हम सभी अत्यन्त आसानी से निष्कर्षों पर पहुँच

जाते हैं, और निष्कर्षों पर पहुँचा हुआ मन मुक्त मन नहीं है। आप पता लगाइये कि व्यक्ति निष्कर्षों के बिना जी सकता है या नहीं; वह प्रतिदिन तुलनाओं से रहित जीवन बिता सकता है या नहीं। चूँकि आप तुलना करते हैं इसीलिए आप निष्कर्ष निकालते हैं। आप एक ऐसा जीवन जियें जिसमें कोई भी तुलना न हो। आप इसे कीजिये, और तब आप देखेंगे कि एक कैसी अद्‌भुत चीज घटित होती है!

प्रश्नकर्ता : **यदि मात्र अनुभव शेष रह जाय और अनुभव भय या क्रोध हो, तो क्या घटित होगा ?**

कृष्णमूर्ति : यदि आप एक अनुभव में इस तरह जियें कि वह अनुभव भविष्य में पहचाना जा सके, तो क्या घटित होगा ? मैं समझता हूँ कि हमें सर्वप्रथम यह पता लगाना होगा कि 'अनुभव' शब्द से हमारा क्या अभिप्राय है। क्या इसका निहितार्थ किसी चीज से गुजरना और उसको पार करना नहीं है, और क्या इसमें पहचानने की क्रिया भी निहित नहीं है अन्यथा हमें पता भी कैसे चलेगा कि हमें अमुक अनुभव हुआ था ? यदि मैं अनुभव को न पहचान पाऊँ तो क्या इसका अनुभव किया जा सकता है ?

प्रश्नकर्ता : **क्या मात्र अनुभव का अस्तित्व नहीं हो सकता है ?**

कृष्णमूर्ति : हम थोड़ा और आगे बढ़ें। हमें अनुभव की आवश्यकता ही क्यों है ? हम सभी लोग अनुभव चाहते हैं। हम जीवन से ऊबे हुए हैं। हमने जीवन को एक यान्त्रिक मामले का रूप दे दिया है, और हम विस्तीर्ण, गहरे एवं भावातीत अनुभवों की खोज करते हैं। अतः हम 'ध्यान' के सहारे इस ऊब और नीरसता से पलायन करके किसी तथाकथित दिव्य अनुभव में प्रवेश करना चाहते हैं। अनुभव का निहितार्थ है जो चीज घटित हो चुकी है उसकी पहचान; और आप उसे तभी पहचान सकते हैं यदि उस घटना की स्मृति आपके पास है। अतः प्रश्न यह है : हम अनुभव की खोज करते ही क्यों हैं ? क्या स्वयं को जगाने के लिए ?—क्योंकि हम सोये हुए हैं ? क्या अनुभव एक चुनौती है जिसका उत्तर हम अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार अर्थात् 'ज्ञात' के अनुसार देते हैं ?

अतः क्या एक ऐसा जीवन जीना सम्भव है, जिसमें मन इतना स्पष्ट और जागरूक हो तथा यह अपने लिए स्वयं एक ज्योति हो, ताकि इसे किसी अनुभव की आवश्यकता न हो ? इसका अर्थ है एक ऐसा जीवन जो द्वन्द्व से मुक्त हो; इसका अर्थ है एक ऐसा मन जो अत्यधिक संवेदनशील एवं प्रज्ञावान हो, जिसको किसी ऐसी चीज की जरूरत नहीं है जो इसको जगाये या चुनौती दे।

ब्रौकवुड पार्क
सितम्बर १२, १९७०

१२

विखंडन और एकता

"मन की पूर्ण निश्चलता और निश्चेष्टता के लिए एक असाधारण ढंग का अनुशासन आवश्यक है·······तब मन के पास एकता की एक धार्मिक गुणवत्ता होती है; इससे ऐसी क्रिया जन्म ले सकती है जो विरोधात्मक न हो।"

हमें जिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करना है उनमें से एक है--पूर्ण एकता को जन्म देना, अर्थात् एक ऐसी चीज को जन्म देना जो 'मैं' की उस विखंडित और स्वकेन्द्रित सरोकार से परे हो, जो सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य तलों पर कार्यरत है। 'मैं' और 'मैं नहीं', 'हम' और 'वे'—ये विभाजन के कारण हैं।

क्या स्वकेन्द्रित सरोकार की गतिविधि से परे जाना कभी सम्भव है? जब कोई चीज सम्भव होती है, तो हमारे पास वृहत् ऊर्जा होती है; परन्तु जो चीज ऊर्जा को नष्ट कर डालती है वह है यह मनोभाव कि अमुक चीज सम्भव नहीं है, जिसके फलस्वरुप हममें से अधिकांश लोग एक मोहजाल से दूसरे मोहजाल में भटकने लगते हैं। स्वकेन्द्रित सरोकार की गतिविधि से परे जाना किस तरह सम्भव है? यह प्रश्न करते समय हम इन बातों को भी ध्यान में रख रहे हैं कि एक मानव के भीतर ढेर सारी पाशविक आक्रामकता और हिंसा मौजूद हैं तथा वह अनेक तरह के मूर्खतापूर्ण उपद्रव भी करता है। वह विभिन्न विश्वासों, धार्मिक मतों एवं पृथक्तावादी सिद्धांतों में उलझा हुआ है; तथा हम यह भी देख रहे हैं कि वह किस तरह एक खास पद्धति या संस्था से विद्रोह करके दूसरी पद्धति या संस्था के जाल में उलझ जाता है।

अतः इन मौजूदा स्थितियों में मनुष्य को क्या करना चाहिए? मेरी समझ से यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को करना ही चाहिए जो सजीव एवं संवेदनशील है, तथा जो उन चीजों की ओर सजग है जो उसके आसपास घटित हो रही हैं। यह कोई बौद्धिक या परिकल्पनात्मक प्रश्न नहीं है बल्कि यह एक ऐसा प्रश्न है जो जीने की वास्तविकता से उठ रहा है। यह प्रश्न कुछेक विरले क्षणों के लिए नहीं है बल्कि इसे दिन-रात कायम रहना चाहिए। गुजते हुए महीनों और वर्षों में इस प्रश्न को प्रज्वलित रहना चाहिए तथा इस प्रश्न को तब तक जीवित रहना चाहिए जब तक आप संसार के साथ पूर्ण संगति एवं सामंजस्य में द्वंद्व से मुक्त होकर जी रहे हैं।

अवलोकन करने पर आप पायेंगे कि स्वकेन्द्रित सरोकार से ही द्वंद्व का जन्म होता है, जो निजी इच्छाओं और वासनाओं को अत्यधिक महत्व देता है। प्रश्न यह है : व्यक्ति इस निकृष्ट, हीन और क्षुद्र अहं से परे कैसे जायेगा ? अहं का यही स्वरूप है, भले ही इसकी भ्रष्टता को छिपाने के लिए आप इसे 'आत्मा' के नाम से पुकारें या किसी और सुखद और कर्णप्रिय शब्द का आविष्कार कर लें। अतः आप इस अहं से परे, अर्थात् इस अहं के पार कैसे जायेंगें।

स्वयं के भीतर आंतरिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन लाने में असमर्थ होने के कारण हमारा ध्यान वाह्य परिस्थितियों की ओर चला जाता है और हम कहने लगते हैं : यदि परिवेश को तथा सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे को बदल दिया जाय, तो मनुष्य भी अवश्यंभावी रूप से बदलेगा। परन्तु यह नितांत गलत साबित हुआ है—हालाँकि साम्यवादी इसी सिद्धांत पर जोर देते हैं। दूसरी ओर धार्मिक सत्ता प्राप्त व्यक्तियों का कहना है : विश्वास, आस्था और श्रद्धा रखो, सच्चे दिल से स्वीकार करो, तथा स्वयं को उस वाहरी शक्ति के हाथों में सौंप दो जो तुमसे बड़ा हैं। यह भी अपनी जीवंतता खो चुका है, क्योंकि यह वास्तविक नहीं है, यह एक शाब्दिक ढाँचे का बौद्धिक आविष्कार मात्र है, जिसमें कोई गहराई नहीं है। राष्ट्र के साथ स्वयं के तादात्म्य का परिणाम भी आपके सामने है—भयानक युद्ध, दुःख, अशान्ति एवं निरंतर बढ़ते हुए विभाजन। यह सब देखते हुए आप क्या करेंगे ? क्या किसी मठ या आश्रम में जाकर बैठ जायेंगे ? क्या ध्यान की जेन पद्धति सीखेंगे ? क्या किसी दार्शनिक सिद्धांत को स्वीकार कर उससे प्रतिवद्ध हो जायेंगे ? क्या पलायन करने के लिए एवं स्वयं को सम्मोहित करने के लिए ध्यान की साधना करने लगेंगे ? आप क्या करेंगे ? आप यह सब देख रहे हैं—शाब्दिक या बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से—और यह देखते हुए कि यह आपको कहीं नहीं ले जा रहा है, क्या आप इसे पूर्णतः और समग्रतः अस्वीकार नहीं कर देंगे, क्या आप इसे उठाकर एक किनारे नहीं फेंक देंगे।

किसी भी वृहत् चीज के साथ स्वयं के तादात्म्य की नासमझी को आप देख रहे हैं। आप यह भी देख रहे हैं कि परिवेश मनुष्य का परिवर्तन करेगी, यह आशा भी एक भ्रांति सिद्ध हुई है। समस्त विश्वास—चाहे वे उदात्त हों या हेय—उनके सतहीपन एवं छिछलेपन को भी आप देख रहे हैं। तो यह सब देखते हुए, क्या आप इन्हें एक किनारे नहीं रख देंगे—सैद्धांतिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से ? यह एक बहुत बड़ा कार्य है। वही मन ऐसा करने में समर्थ है जो चीजों को उनके मूल रूप में पूर्णता से देखता है—बिना किसी विकृति के तथा बिना अपनी पसन्द या नापसन्दगी के अनुसार उनकी व्याख्या करते हुए। तो यदि आप ऐसा करते हैं, तो आपके मन की

गुणवत्ता के साथ क्या घटित होता है ? क्या वहाँ तत्काल क्रिया जन्म नहीं लेती है ? ऐसी क्रिया ही प्रज्ञा है; जैसे, किसी खतरे को देखना और तत्क्षण कार्य करना। इस प्रज्ञा में 'देखने' और 'करने' में कोई विभाजन नहीं रह जाता, क्योंकि अवलोकन में ही क्रिया समाहित हो जाती है। जब हम अपने जीवन में इस तरह कार्य नहीं करते, तो असंतुलन और विक्षिप्तता पैदा होती है ! तब हम प्रायः कहते हैं, "मैं इसे नहीं कर सकता, यह अत्यंत कठिन है, मैं करूँ भी तो क्या करूँ ?"

जहाँ किसी धारणा के अनुसार मनोवैज्ञानिक तल पर क्रिया निर्धारित की जाती है, वहाँ विभाजन होगा और इसलिए द्वंद्व भी होगा। विचार और क्रिया के बीच का यह द्वंद्व जीवन में सबसे बड़ी भ्रांति निर्मित करता है। क्या ऐसी क्रिया सम्भव है जिसका जन्म बिना किसी चिन्तन और विचारणा के हुआ हो ? अर्थात् क्या देखना और कार्य करना साथ-साथ घटित हो सकता है ? जब हम पर कोई संकट या बहुत बड़ा शारीरिक खतरा उपस्थित होता है, तो हम इसी तरह कार्य करते हैं—अर्थात् हमारी क्रिया तत्क्षण घटित होती है। क्या इसी तरह जीना सम्भव है ? अर्थात् क्या यह सम्भव है कि हम खतरे को साफ-साफ देखें; जैसे, राष्ट्रीयता के खतरे को, या धार्मिक विश्वास के खतरे को—जो मनुष्य को मनुष्य से अलग कर देते हैं—ताकि इसको देखना ही इसकी असत्यता की समझ बन जाये ? यह विश्वास करने का प्रश्न नहीं है कि यह असत्य है। विश्वास का अवलोकन से कोई सम्बन्ध नहीं है; उलटे विश्वास अवलोकन में बाधा डालता है। यदि आपके पास कोई नियम, परंपरा या पूर्वाग्रह हैं; यदि आप एक हिन्दू, एक यहूदी, एक अरब या एक साम्यवादी हैं, तो इस तरह के विभाजन ही विरोध, वैमनस्य, घृणा और हिंसा उत्पन्न करते हैं और दुर्भाग्यवश आप वास्तविकता को देखने में असमर्थ हैं। धारणा और क्रिया के बीच किसी भी विभाजन में द्वंद्व होगा ही। यह द्वंद्व उन्माद और विक्षिप्तता है, क्या मन सीधे और प्रत्यक्ष रूप से देख सकता है, ताकि इस देखने में ही 'करना' घटित हो ? यह बृहत् होश और सावधानी की माँग करता है, और इसके लिए चाहिए एक ऐसा मन जिसमें सतर्कता, तत्परता और संवेदनशीलता की गुणवत्ता मौजूद हो।

आपके पास एक अत्यंत स्पष्ट, तीव्र, संवेदनशील एवं प्रज्ञाशील सजगता होनी चाहिए। इस तथ्य को देखते हुए आप पूछेंगे, "मैं इसे कैसे प्राप्त करूँ, मैं इस पर कैसे अधिकार करूँ ?" इस प्रश्न में पहले से ही विभाजन मौजूद है। वस्तुतः जो घटित हो रहा है उसके वास्तविक तथ्य को जब आप देखते हैं तो यह देखना ही क्रियाशीलता को जन्म देता है। आशा है कि इसे आप स्पष्टतः समझ रहे हैं।

बाह्य या आंतरिक रूप से किसी भी प्रकार का द्वंद्व वस्तुतः विकृति है—यद्यपि बाह्य और आंतरिक जैसा कोई वास्तविक विभाजन नहीं है। मुझे नहीं लगता कि आप पर्याप्त स्पष्टता के साथ इस तथ्य को समझते हैं। आप द्वंद्व और संघर्ष के परम अभ्यस्त हैं। इतना ही नहीं, आप सोचते हैं कि जहाँ द्वंद्व नहीं है वहाँ विकास, प्रगति या सृजन नहीं होता, वहाँ आप समुचित रूप से कार्य नहीं कर पाते। आप प्रतिरोध चाहते हैं, परन्तु इसमें निहित विभाजन को आप नहीं देख रहे हैं। तो इस तथ्य का अवलोकन करने के बाद कि किसी भी प्रकार के प्रतिरोध एवं संघर्ष में विभाजन निहित है, जो विक्षिप्तता और द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न करता है, हम यह प्रश्न कर रहे हैं : क्या मन बिना प्रतिरोध एवं द्वंद्व के कार्य कर सकता है ?

जब धारणा के बिना अवलोकन और क्रिया होती है, तो उस गतिविधि का अंत हो जाता है जिसका मूलभूत स्रोत वह केन्द्र है जिसे 'अहं' 'मैं', 'अहंकार', 'जीवेषणा' आदि के नाम से पुकारा जाता है—इस आंतरिक सत्ता का वर्णन करने के लिए चाहे आप जिस शब्द का प्रयोग करें—'द्रष्टा' नियंत्रक, विचारकर्ता, अनुभवकर्ता इत्यादि। समस्त मनोवैज्ञानिक विचारणा और उद्भावना का केन्द्र 'मैं' है—न कि व्यावहारिक और वैज्ञानिक ज्ञान। जब कोई चुनौती आती है, तो मैं के केन्द्र से निकलनेवाला उत्तर वस्तुतः अतीत का ही उत्तर है। परन्तु तत्क्षण देखने और तत्क्षण कार्य करने में 'मैं' का प्रवेश नहीं होता।

यह केन्द्र कौन है ? यह केन्द्र हिन्दू, अरब, यहूदी, ईसाई, साम्यवादी इत्यादि है। जब यह केन्द्र उत्तर देता है, तो यह उसके अतीत के संस्कारों का ही उत्तर है। यह केन्द्र हजारों वर्ष के सामाजिक और धार्मिक प्रचार का परिणाम है, और जब यह केन्द्र उत्तर देगा तो द्वंद अवश्यंभावी है।

जब आप कोई चीज अत्यंत साफ-साफ देखते हैं, और कार्य करते हैं, तो विभाजन पैदा नहीं होता। इसे आपको किताबों से नहीं सीखना है, यह एक ऐसी चीज है जिसे आप स्वयं को जानने के द्वारा ही सीख सकते हैं। अतः यह सीधे और प्रत्यक्ष रूप से सीखा जाता है, किसी और व्यक्ति से नहीं।

समस्त चीजों की क्षणभंगुरता का अनुभव करते हुए, क्या मनुष्य किसी ऐसी चीज को पा सकता है जो समय का हिस्सा न हो ? मस्तिष्क समय का परिणाम है, यह हजारों वर्ष के दौरान संस्कारबद्ध हो चुका है। इसका विचार वस्तुतः स्मृति, ज्ञान और अनुभव की ही प्रतिक्रिया है; यह विचार कभी किसी नयी चीज की खोज नहीं कर सकता क्योंकि इसका जन्म संस्कारों से हुआ है; यह सदा पुराना है, अतः यह कदापि मुक्त नहीं है। विचार जिस चीज का भी प्रक्षेपण करता है वह समय के क्षेत्र

के भीतर ही होती है। विचार ईश्वर और स्वर्ग का आविष्कार कर सकता है, यह एक समयातीत अवस्था की कल्पना कर सकता है, परन्तु यह सारा कुछ इसकी अपनी ही उपज है, अतः यह सब समय अर्थात् अतीत का हिस्सा है और इसलिए अवास्तविक है।

अतः मनुष्य ने समय के स्वरूप का अनुभव करते हुए—वह मनोवैज्ञानिक समय जिसमें विचार अत्यंत असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो गया है—सदा किसी ऐसी चीज की खोज की है जो इन सबों से परे हो। वह इसको खोजने निकल पड़ता है, परन्तु रास्ते में वह विश्वासों से बँध जाता है; भय के कारण वह एक अद्‌भुत इष्टदेवता का आविष्कार कर लेता है। वह इसकी खोज ध्यान की पद्धति द्वारा भी करता है। ध्यान उसके लिए बार-बार दोहराया जानेवाला कृत्य बन जाता है, जो उसके मन को थोड़ा बहुत शांत, परंतु मंद और संवेदनशून्य बना देता है। भले ही वह अनंत काल तक मंत्रों का जप करता रहे परन्तु इस तरह की कोई भी बार-बार दोहरायी जाने वाली क्रिया मन को न केवल यांत्रिक बनाती है बल्कि बुद्धिहीन और नासमझ बना देती है। ऐसा मन किसी रहस्यपूर्ण, अलौकिक या भावातीत अवस्था की कल्पना करके उसमें उड़ान भर सकता है। परन्तु यह ध्यान नहीं है।

ध्यान का निहितार्थ है एक ऐसा मन जो इतना आश्चर्यजनक रूप से साफ और स्पष्ट है कि हर प्रकार की आत्मप्रवंचना का अंत हो गया है। आप अनंतकाल तक स्वयं को धोखा दे सकते हैं; और साधारणतः तथाकथित ध्यान आत्मसम्मोहन का ही दूसरा रूप है—अपने संस्कारों के अनुसार दिव्यदर्शन प्राप्त करना। यह सीधी सी बात है : यदि आप ईसाई हैं तो आप अपने ईसा मसीह के दर्शन करेंगे, यदि आप हिंदू हैं तो आप अपने कृष्ण के दर्शन करेंगे या उन असंख्य देवताओं में से अपने किसी एक इष्ट देवता के दर्शन करेंगे। परन्तु इनमें से कोई भी चीज ध्यान नहीं है। ध्यान का अर्थ है, मन की परम निश्चलता, मस्तिष्क की परम निश्चेष्टता। और इस ध्यान की नींव अपने प्रतिदिन के जीवन में एवं इसकी क्रियाओं में ही रखी जाती है—आप कैसे व्यवहार करते हैं, क्या सोचते-विचारते हैं—इन सबों में ही इसकी नींव रखी जाती है। आप हिंसक होकर ध्यान नहीं कर सकते—क्योंकि तब इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता। यदि किसी तरह का मनोवैज्ञानिक भय मौजूद है, तो जाहिर है कि ध्यान एक पलायन बन जाता है। मन की पूर्ण निश्चलता और निश्चेष्टता के लिए एक असाधारण ढंग का अनुशासन आवश्यक है—नियमबद्धता, दमन या किसी सत्ता के अनुसरण का अनुशासन नहीं बल्कि वह अनुशासन, अर्थात् सीखने की वह प्रक्रिया जो विचार की प्रत्येक गति के बारे में दिन भर चलती रहती है; तब मन के पास एकता की एक धार्मिक गुणवत्ता होती है; इससे ऐसी क्रिया जन्म ले सकती है जो विरोधात्मक नहीं है।

ध्यान की छानवीन के क्रम में ही हम इस पर भी चर्चा कर लें कि स्वप्नों की क्या भूमिका है। हमारा मन कभी शांत और निश्चल नहीं रहता; दिन भर जो गतिविधि निरंतर चलती रहती है, वह नींद में भी जारी रहती है। चिंता, फ़िक्र, परेशानी, पीड़ा, भय और सुख—ये सब हमारी नींद में भी चलते रहते हैं; ये स्वप्न में प्रतीकों के रूप में प्रखर रूप से प्रकट हो जाते हैं। क्या हमारा मन नींद के दौरान पूर्णतः शांत और निश्चल हो सकता है ? यह संभव है, परन्तु तभी जब दिन भर के प्रत्येक दुःख और पीड़ा को उसी समय समझ लिया जाय ताकि यह वहीं समाप्त हो जाय और इसको ढोना न पड़े। यदि आपकी प्रशंसा या आपका अपमान किया जाय तो इसे उसी क्षण समाप्त कर डालें ताकि आपका मन समस्याओं से सतत मुक्त रहे। तब जब आप रात में सोयेंगे, तो एक भिन्न प्रकार की गुणवत्ता का जन्म होगा, आपका मन उस समय पूर्ण विश्राम की अवस्था में होगा, और आप दिन भर के प्रपंच एवं व्यापार को ढो नहीं रहे होंगे—वस्तुतः प्रत्येक दिन के अंत होते ही आप इनका भी अंत कर लेंगे।

यदि आप इस सबसे गुजर जायें तो आप पायेंगे कि ध्यान मन की वह गुणवत्ता है जो समस्त ज्ञान से पूर्णतः मुक्त है—यद्यपि ऐसा मन ज्ञान का उपयोग करता है। चूँकि यह 'ज्ञात' से मुक्त है अतः यह 'ज्ञात का उपयोग कर सकता है, और यह उपयोग सदा विवेकशील, वस्तुपरक तथा अवैयक्तिक होता है, एवं स्वाग्रह से मुक्त होता है।

और ऐसा होता है कि मन के इस मौन में एक ऐसी गुणवत्ता जन्म लेती है जो समयातीत है। परन्तु जैसा हमने पहले कहा था, हम पुनः दोहरा दें कि कोई भी वर्णन और व्याख्या स्वयं वह चीज नहीं है जिसका वर्णन और जिसकी व्याख्या की गयी है। हममें से अधिकांश व्यक्ति व्याख्या और वर्णन से ही संतुष्ट हो जाते हैं। आपको शब्द से मुक्त होना चाहिए, क्योंकि शब्द ही वस्तु नहीं हैं। जब आप इस ढंग से जियेंगे तो जीवन में एक भिन्न सौंदर्य होगा, तथा परम प्रेम होगा; ऐसा प्रेम जो न सुख है न आकांक्षा है। सुख एवं आकांक्षा विचार से संबंधित हैं, और प्रेम विचार की उपज नहीं है।

प्रश्नकर्ता : जब मैं स्वयं का अवलोकन करता हूं, तो मैं विचार और अनुभूति की एक तीव्र गति को देखता हूं, और मै किसी विचार का निरीक्षण उसके अंत तक नहीं कर पाता।

कृष्णमूर्ति : मन के भीतर घटनाओं की एक श्रृंखला निरन्तर चलती रहती है। आप क्या करेंगे ? जब आप किसी एक विचार का निरीक्षण करते हैं और इसको समझने की कोशिश करते हैं—अंत तक इसका पीछा करते हुए—तब तक दूसरा विचार उठ खड़ा होता है। यह हर समय चलता रहता है। यही आपकी समस्या है। जब आप निरीक्षण करते हैं तो विचारों का अंबार लग जाता है और आप किसी विचार को उसके अंत तक नहीं देख पाते। आप क्या करेंगे ? प्रश्न को जरा भिन्न ढंग से रखकर देखें : मन क्यों अनवरत प्रलाप करता है ? यह स्वगत भाषण क्यों हर समय चलता रहता है ? और यदि यह रुक जाये, तो क्या होगा ? क्या यह निरन्तर प्रलाप किसी न किसी चीज के साथ सदा व्यस्त रहने की आपकी इच्छा का ही परिणाम है ? यदि आप किसी चीज के साथ व्यस्त न रहें, तो क्या होगा ? यदि आप एक गृहिणी हैं, तो आप गृह कार्य में व्यस्त हैं, अथवा आपके पास एक व्यापारी की व्यस्तता हो सकती है—व्यस्तता दरअसल उन्माद और सनक का रूप ले चुका है। हमारा मन इस व्यस्तता और बकबक की माँग क्यों कर रहा है ? यदि यह निरन्तर बकबक न करे और व्यस्त न रहे, तो क्या होगा ? क्या इसके पीछे कोई भय है ? यदि हाँ, तो किस चीज का भय ?

प्रश्नकर्ता : **कुछ नहीं होने का भय ?**

कृष्णमूर्ति : खाली और अकेले होने का भय, अपने अन्दर की सारी घबराहट और अशान्ति से अवगत होने का भय, अतः इसे किसी चीज के साथ व्यस्त रहना चाहिए, जैसे कोई भक्त अपने 'भगवान' के साथ तथा अपनी पूजा-प्रार्थना के साथ व्यस्त रहता है, क्योंकि उसे भय है कि यदि वह यह सब नहीं करे तो वह एक आम आदमी की तरह हो जायेगा। अतः आप व्यस्त रहना चाहते हैं, और इस व्यस्तता में जिस बात का भय छिपा है वह यह है कि आप वस्तुतः जो कुछ हैं उसका कहीं आपको पता न चल जाये। जब तक आप भय की इस समस्या का समाधान नहीं कर लेते, तब तक आपकी यह निरन्तर बकबक जारी रहेगी, आपका यह अनवरत प्रलाप चलता रहेगा।

प्रश्नकर्ता : **जैसे ही मैं स्वयं का निरीक्षण करता हूँ कि भय बढ़ने लगता है।**

कृष्णमूर्ति : स्वाभाविक है। अतः प्रश्न यह नहीं है कि भय को बढ़ने से कैसे रोकें बल्कि प्रश्न यह है : क्या भय का अंत हो सकता है ?

भय क्या है ? सम्भव है कि यहाँ बैठे हुए आप भय का अनुभव न करें, इसलिए शायद अभी आप किसी भय को लेकर उसकी जाँच-पड़ताल न कर पायें और उससे न

सीख पायें। परन्तु क्या आप तत्काल अपनी निर्भरता का अवलोकन नहीं कर सकते हैं ? आप अपने दोस्त पर, अपनी पुस्तक पर, अपने विचारों पर या अपने पति पर निर्भर हैं। यह मनोवैज्ञानिक निर्भरता सतत कायम रहती है। आप क्यों निर्भर हैं ? क्या इसलिए कि यह आपको सुख, सांत्वना, सुरक्षा, मित्रता और कुशल-मंगल का भाव देता है ? जब इस निर्भरता का आधार आपसे छिन जाता है, तो आप क्रोध, ईर्ष्या आदि से जलने लगते हैं। अथवा प्रतिक्रियास्वरूप आप निर्भरता से मुक्ति का विकास करने लगते हैं, स्वतंत्र होने के लिए। परन्तु मन यह सब क्यों करता है ? क्या इसलिए कि यह अपने आपमें मंद, मूढ़, संवेदनशून्य, छिछला और खाली है, तथा निर्भरता द्वारा यह स्वयं को थोड़ा भरा-पूरा अनुभव करता है ?

हमारा मन अनवरत प्रलाप करता रहता है, क्योंकि इसे किसी न किसी चीज के साथ सदा व्यस्त रहना है। यह व्यस्तता 'धार्मिक' व्यक्ति की उच्चतम व्यस्तता से लेकर सैनिक की निम्नतम व्यस्तता तक कुछ भी हो सकती है। मन स्वयं को निरन्तर व्यस्त रखता है, अन्यथा इसे किसी ऐसी चीज का पता चल सकता है जिससे यह गहरे रूप से भयभीत है, कोई ऐसी चीज जिसका यह समाधान न कर पाये।

भय क्या है ? क्या इसका संबंध अतीत के मेरे किसी कृत्य से अथवा भविष्य की किसी संभावित घटना से ही नहीं है ? अतीत की घटना और भविष्य की दुर्घटना। अतीत की बीमारी और भविष्य में इसकी पीड़ा के पुनरागमन की संभावना। अतः हम देखते हैं कि विचार ही भय का सृजन करता है। विचार भय को जन्म देता है, उसी तरह जिस तरह यह सुख को पोषण और जीवन देता है। तो क्या विचार समाप्त हो सकता है ? क्या विचार का अंत हो सकता है, ताकि यह भय और सुख को सातत्य न दे ? हम सुख चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सुख सदा कायम रहे, परन्तु भय—इसे हम अपने पास नहीं फटकने देना चाहते हैं। हम इस तथ्य को कभी नहीं देखते कि भय और सुख दोनों एक साथ चलते हैं।

विचार की यांत्रिक प्रक्रिया ही जिम्मेदार है इस सबके लिए, वही भय और सुख को सातत्य देती है। क्या इस यांत्रिक प्रक्रिया का अंत हो सकता है ? जब आप सूर्यास्त के असाधारण और अद्भुत सौंदर्य को देखें, तो आप सिर्फ इसे देखें, वहाँ यह विचार न लायें—मुझे अपनी स्मृति में इसे संजो कर रख लेना चाहिए। मुझे इस दृश्य का आनन्द भविष्य में पुनः लेना चाहिए। सूर्यास्त के उस सौंदर्य को समग्रतः देखना और इसे वहीं समाप्त कर देना ही क्रिया है। हममें से अधिकांश व्यक्ति वस्तुतः निष्क्रियता में जीते हैं, इसीलिए मन का यह अंतहीन प्रलाप चलता रहता है।

प्रश्नकर्ता : परन्तु जिस समय यह प्रलाप चलता रहता है उस समय, क्या हमें इसका सिर्फ अवलोकन करना है ?

कृष्णमूर्ति : अर्थात् आप इस प्रलाप के प्रति सजग हो जायें—विना किसी चुनाव के। इसका अर्थ है, आप इसे दवाने की कोशिश न करें और न ही यह कहें कि यह सही है, यह गलत है, मुझे इससे परे चला जाना चाहिए। जब आप अपने प्रलाप का निरीक्षण करते हैं, तो आपको पता चलता है कि यह क्यों अनवरत चलता रहता है। जब आप इसके निरीक्षण द्वारा इसके स्वरूप और इसकी संरचना के बारे में सीख जाते हैं तथा इसे समझ जाते हैं, तो यह स्वतः समाप्त हो जाता है। तब आपको प्रलाप का प्रतिरोध नहीं करना पड़ता। निषेध द्वारा ही आप विध्यात्मक क्रिया उपलब्ध करते हैं।

ब्रॉकवुड पार्क
सितम्बर १३, १९७०



खण्ड ५



१३

मनोवैज्ञानिक क्रांति

"आंतरिक और बाह्य रूप से व्याप्त इस व्यापक विखंडन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि एकमात्र मुद्दा यही है कि मनुष्य को स्वयं के भीतर मौलिक और गहरे रूप से एक क्रांति लानी चाहिए।"

जीवन गम्भीर है, अतः आपको भी अपने पूरे मन और हृदय से गम्भीर होना होगा। आप जीवन से खेलवाड़ नहीं कर सकते। विश्व समस्याओं से भरा पड़ा है, समाज में भ्रष्टाचार तथा विभिन्न धार्मिक और राजनीतिक विभाजन एवं विसंगतियाँ व्याप्त हैं। यहाँ भीषण अन्याय, दुःख एवं दरिद्रता मौजूद हैं—दरिद्रता न केवल बाहर है बल्कि मनुष्य के भीतर भी है। कोई भी गम्भीर एवं बुद्धिमान व्यक्ति जो मात्र भावना और भावुकता से प्रेरित नहीं है—यह सब देखते हुए एक परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करता है।

परिवर्तन का अर्थ या तो समग्र मानव के स्वभाव और स्वरूप में एक सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक क्रांति है या यह सामाजिक ढाँचे में सुधार करने का एक प्रयास मात्र है! मनुष्य के जीवन में अर्थात् आपके और मेरे जीवन में वास्तविक संकट और चुनौती यह है कि क्या इस तरह को एक मनोवैज्ञानिक क्रांति लायी जा सकती है—जिसका राष्ट्रीयता और समस्त धार्मिक विभाजन से कोई सम्बन्ध न हो?

हम ने ही इस समाज का निर्माण किया है। हमारे बाप-दादे ने तथा इससे भी पहले उनके पूर्वजों ने इस भ्रष्ट ढाँचे को जन्म दिया, और हम उसी की उपज हैं। हम ही समाज हैं, हम ही संसार हैं, और यदि हम स्वयं मूलभूत रूप से एवं वस्तुतः अत्यन्त गहरे रूप से नहीं बदलते हैं, तो सामाजिक व्यवस्था के बदलाव की भी कोई सम्भावना नहीं है। हममें से अधिकांश व्यक्ति इस बात को महसूस नहीं करते। हर आदमी, खासकर युवा पीढ़ी यही कहती है कि हमें समाज को बदलना चाहिए। हम बातें तो बहुत करते हैं; परन्तु हम इस सम्बन्ध में कुछ करते नहीं। बदलना हमें है न कि समाज को। कृपया इस बात को अच्छी तरह समझ लें। हमें अपने आपमें तथा अपने सोचने-विचारने, अनुभव करने तथा जीने के पूरे ढंग में एक गहरा परिवर्तन लाना होगा, तभी सामाजिक परिवर्तन सम्भव है। जैसा कि देखा गया है, भौतिक

समय आवश्यक है—कहने का अर्थ, मान लीजिये कि आप अपने जीवन के अन्त में ही वुद्धत्व की अवस्था में पहुँचेंगे—तो इस बीच आप युद्ध, घृणा और भ्रष्टाचार के बीज बोते ही चले जायेंगे। अतः क्या यह मूलभूत आन्तरिक क्रान्ति तत्क्षण घटित हो सकती है ? यह तत्क्षण घटित हो सकती है—यदि आप इस सबके खतरे को देख लें। जब आपका सामना एक साँप से या किसी जंगली जानवर से होता है, या जब आप स्वयं को किसी ऊँची और खड़ी चट्टान के कगार पर खड़े हुए पाते हैं, तो चूँकि इन चीजों के खतरे को आप देखते हैं, इसलिए आपकी क्रिया वहाँ तत्क्षण होती है। परन्तु आप उस समस्त विखंडन के खतरे को नहीं देखते, जो 'अहं' और 'मैं' के महत्वपूर्ण हो जाने पर पैदा होता है, तथा जो 'मैं' और 'मैं नहीं' के परस्पर विरोध से भी पैदा होता है। जिसी क्षण आपके भीतर यह विखंडन पैदा होता है, वहाँ द्वन्द्व अनिवार्यतः मौजूद हो जाता है; और द्वन्द्व ही भ्रष्टता की जड़ है। अतः यह आपके लिए उचित और आवश्यक हो जाता है कि आप स्वयं ध्यान के सौन्दर्य का पता लगाएँ, क्योंकि इस अवस्था में मन संस्कारशून्य और मुक्त होने के कारण उस चीज के दर्शन करता है जो सत्य है।

प्रश्न करना आवश्यक है, इससे न केवल आप स्वयं को स्पष्टतः प्रकट कर पाते हैं बल्कि प्रश्न करने में ही आपको स्वयं उत्तर का पता चल जाता है। यदि आप सही प्रश्न करेंगे, तो आप देखेंगे कि सही उत्तर प्रश्न में ही मौजूद है। आपको जीवन में प्रत्येक चीज पर स्वयं से प्रश्न करना चाहिए—आपके छोटे वाल या लम्बे वाल, आपके वस्त्र, आपके चलने-फिरने का ढंग, आपके खाने-पीने का ढंग, आपके सोचने-विचारने का और अनुभव करने का ढंग—प्रत्येक चीज पर आपको प्रश्न की निगाह डालनी चाहिए। तव मन असाधारण रूप से सजीव, संवेदनशील एवं प्रज्ञावान हो जाता है। ऐसा मन प्रेम करने में समर्थ है, ऐसा मन यह भी जानता है कि एक धार्मिक मन क्या है।

प्रश्नकर्ता : वह ध्यान क्या है, जिसकी आप चर्चा करते हैं ?

कृष्णमूर्ति : क्या आप ध्यान के अर्थ के वारे में कुछ भी जानते हैं ?

प्रश्नकर्ता : ध्यान विभिन्न प्रकार के होते हैं, परन्तु मैं नहीं जानता कि आप उनमें से किस ध्यान की चर्चा करते हैं।

कृष्णमूर्ति : ध्यान की कोई भी पद्धति ध्यान नहीं है। पद्धति का अर्थ है एक विधि, जिसका आप अभ्यास करते हैं ताकि अन्त में आपको कुछ प्राप्त हो सके। किसी भी चीज का जब बार-बार अभ्यास किया जाता है तो वह चीज यान्त्रिक हो जाती है। एक यान्त्रिक मन—अर्थात् एक ऐसा मन जिसे तथाकथित ध्यान की किसी विधि और पद्धति का पालन करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है, तोड़ा-मरोड़ा गया है तथा सताया गया है, इस आशा में कि अन्त में एक पुरस्कार की प्राप्ति होगी—ऐसा मन अवलोकन करने के लिए एवं सीखने के लिए भला कैसे स्वतन्त्र और मुक्त हो सकता है ?

भारत और सुदूर पूर्व के देशों में ऐसे कई केन्द्र हैं जहाँ वे ध्यान की विधियाँ सिखाते हैं—जरा आप सोचें कि यह कैसी भयानक बात है। क्योंकि इसका अर्थ है मन को यान्त्रिक रूप से प्रशिक्षित करना। फलतः ऐसा मन अपनी मुक्ति खो देता है और समस्या को समझ नहीं पाता।

अतः जब हम 'ध्यान' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य किसी ऐसी चीज से नहीं है जिसका कि अभ्यास किया जाय। हमारे पास कोई भी विधि नही है। ध्यान का अर्थ है सजगता। आप जो कुछ कर रहे हैं, आप जो कुछ सोच रहे हैं, आप जो कुछ अनुभव कर रहे हैं—इन सबके प्रति सजग होना, इनका अवलोकन करना तथा सीखना। ध्यान का अर्थ है अपने संस्कारों के प्रति सजग रहना—जिस समाज में आप रह रहे हैं तथा जिसमें आपका पालन-पोषण हुआ है उस समाज ने आपको किस तरह संस्कारबद्ध कर डाला है एवं धार्मिक प्रचार ने भी आपको किस तरह संस्कारबद्ध कर डाला है, इन सबके प्रति सजग रहना—बिना किसी चुनाव के, बिना किसी विकृति के तथा बिना यह इच्छा करते हुए, "काश, यह स्थिति भिन्न होती।" इसी सजगता से सावधानी का जन्म होता है, जिसका अर्थ है पूर्ण रूप से सावधान होने की क्षमता। तब आपके पास एक स्वतन्त्रता और मुक्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप आप बिना किसी विकृति के चीजों को उनके मूल रूप में देख पाते हैं। तब मन भ्रान्तिमुक्त, स्पष्ट और संवेदनशील हो जाता है; इस तरह का ध्यान मन की एक अनूठी गुणवत्ता को जन्म देता है—यह पूर्ण मौन की गुणवत्ता है। इस गुणवत्ता का आप जितना चाहें गुण गा सकते हैं, परन्तु इसका अर्थ ही क्या है यदि यह गुणवत्ता आपके पास नहीं है।

प्रश्नकर्ता : **क्या यह मार्ग और भी अधिक अलगाव एवं भ्रांति की ओर नहीं ले जायेगा ?**

कृष्णमूर्ति : सर्वप्रथम मैं यह पूछना चाहूँगा, क्या अधिकांश व्यक्ति बुरी तरह भ्रमित नहीं है ? क्या आप स्वयं अत्यधिक भ्रमित नहीं हैं ? तथ्य को देखिये, इसे जानने की कोशिश कीजिये कि आप भ्रमित हैं या नहीं। एक भ्रमित व्यक्ति जो कुछ करता है वह सिर्फ भ्रम को ही जन्म देता है। भ्रमित मन कहता है, "मैं ध्यान की साधना करूँगा, मैं इसकी खोज करूँगा कि प्रेम क्या चीज है।" परन्तु एक भ्रमित मन अपनी भ्रान्ति के ही फैलाव के सिवाय अन्य किसी चीज को भला कैसे पा सकता है ! यदि आप इस तथ्य का स्पष्ट अनुभव कर चुके हैं, तो आप क्या करेंगे ?

आप भ्रमित हैं और आप मन की एक ऐसी अवस्था उत्पन्न करना चाहते हैं जो भ्रमित न हो। आप इसको, उसको, यानी दस चीजों को आजमा कर देखते हैं—मादक औषधि, शराब, कामवासना, पूजा-पाठ, अथवा पलायन करना, अनुसरण करना, बम फेंकना—इस तरह की अनेक चीजें। अतः पहली बात जो आवश्यक है, वह यह है कि

आप अपनी समस्त क्रिया वन्द कर दें अर्थात् आप सब कुछ करना वन्द कर दें। आप भ्रांति से दूर जाने की सारी चेष्टा वन्द कर दें ताकि भ्रांति द्वारा कोई भी क्रिया घटित न हो। इस प्रकार अब समस्त किया वन्द हो गयी है, और केवल भ्रांति शेष रह गयी है। इससे कोई पलायन नहीं हो रहा है—न इससे बाहर निकलने का मार्ग खोजा जा रहा है, और न ही इस भ्रांति के स्थान पर स्पष्टता लाने की कोशिश की जा रही है! इस अवस्था में विचार भ्रांति के तथ्य से दूर नहीं भाग रहा है, अतः यह भ्रांति में वृद्धि नहीं कर रहा है। विचार का सरोकार अभी किसी क्रिया से नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है: क्या आप 'द्रष्टा' वनकर भ्रांति को अपने से बाहर की कोई चीज समझ रहे हैं या आप इस भ्रांति के हिस्से हैं। क्या 'द्रष्टा' भ्रांति से भिन्न है, जिसका कि यह अवलोकन कर रहा है? यदि 'द्रष्टा' और 'दृश्य' में भेद किया जाता है, तो एक विसंगति पैदा होती है—यह विसंगति ही भ्रांति का कारण है। अतः यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि मन भ्रांति को कैसे देखता है। क्या मन भ्रांति को स्वयं से पृथक् की एक चीज के रूप में देखता है, अथवा 'द्रष्टा' स्वयं 'दृश्य' है? कृपया इस अत्यंत महत्वपूर्ण चीज को आप समझ लें। एक वार जहाँ आपने इसे समझ लिया, फिर आप देखेंगे कि यह जीवन में कितना बड़ा अन्तर लाता है! तब समस्त द्वंद्व का अंत हो जाता है। तब वहाँ कोई 'द्रष्टा' नहीं होता जो कहे, "मुझे इसका परिवर्तन करना चाहिए, मुझे स्पष्टता लानी चाहिए, मुझे इस पर विजय पाना चाहिए, मुझे इसे समझने का प्रयास करना चाहिए, मुझे इससे पलायन करना चाहिए।" इस तरह की समस्त गतिविधि 'द्रष्टा' की ही होती है, जिसने स्वयं को भ्रांति से पृथक् करके, भ्रांति और अपने वीच द्वंद्व उत्पन्न कर रखा है।

प्रश्नकर्ता : **मैं अपनी भ्रांति को स्वीकार करता हूँ।**

कृष्णमूर्ति : आह! जिसी क्षण आप कहते हैं कि मैं स्वीकार करता हूँ, वहाँ एक ऐसी सत्ता खड़ी हो जाती है जो इसे स्वीकार करती है। यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। मैं अवलोकन कर रहा हूँ—इस अवलोकन में क्या मैं यह पाता हूँ कि मैं एक वाह्य सत्ता के रूप में अवलोकन कर रहा हूँ या मैं यह पाता हूँ कि मैं स्वयं भ्रांति का हिस्सा हूँ? यदि मैं भ्रांति का ही हिस्सा हूँ, तो वहाँ कुछ भी करने को नहीं वचता, अतः मन बिलकुल शांत और निश्चल हो जाता है; यह अब भ्रांति से दूर भागने की कोशिश नहीं करता। अतः जब 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच विभाजन समाप्त हो जाता है, तो भ्रांति का पूर्णतः अंत हो जाता है।

दूसरा प्रश्न जो मेरे पास आया था, वह यह है: "यदि मुझे स्वयं से सीखना है, तो उस स्थिति में क्या होगा, जब मेरे चारों ओर का संसार मुझे नियंत्रित करेगा, मुझे सेना में जबरन भरती करेगा, मुझे युद्ध के मोरचे पर ले जायेगा या मुझसे कहेगा कि

राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक रूप से मुझे क्या करना है ?" पूरव से आये गुरू, और यहाँ पश्चिम के मनोवैज्ञानिक—ये सब आपको बताते हैं कि आपको क्या करना है। ये लोग अपने अपने ढंग से आपको किसी आदर्शलोक (Utopia) का अथवा निर्वाण, बुद्धत्व और सत्य का विश्वास दिलाते हैं। यदि आप इनका आज्ञापालन करने लगें, तो आप यांत्रिक हो जायेंगे। आज्ञापालन करने का अर्थ ही है किसी की बात सुनना। निरंतर दूसरों की बातें सुनते-सुनत आप धीरे-धीरे उनकी आज्ञा मानने लगते हैं, और यंत्रवत् उनके पीछे चल पड़ते हैं। यदि आप स्वयं से सीखें अर्थात् यदि आप अपने बारे में सीखें, तो आप दूसरों के बारे में भी सीखने लगेंगे। जब सरकार आपको फौज में भरती होने की आज्ञा देगी, तो आप वही करेंगे जो उस क्षण आपको सही प्रतीत होगा। एक स्वतंत्र और मुक्त मन आज्ञापालन नहीं करता। एक मुक्त मन इसीलिए मुक्त है क्योंकि स्वयं इसके भीतर कोई भ्रांति नहीं है। तब आप कह सकते हैं, "जहाँ चारों ओर भ्रष्टता और भ्रांति फैली हुई हो, वहाँ एक मानव को यानी एक व्यक्ति को ऐसा मन उपलब्ध हो भी जाये, तो इससे क्या लाभ है ?" यदि आपके पास ऐसा मन होता, तो क्या आपको लगता है कि आप ऐसा प्रश्न पूछते भी ?

प्रश्नकर्ता : **निश्चय ही तब कोई शब्द शेष नहीं रह जायेगा ?**

कृष्णमूर्ति : ये सब आपके अनुमान हैं। क्या नहीं हैं ? आप कैसे जानते हैं ?

प्रश्नकर्ता : **शब्द ही विचार के आधार हैं। तब चूँकि शब्द शेष नहीं रह जायेंगे, अतः मन मुक्त होगा, हम सम्बन्धों में नहीं उलझेंगे, हम कोई चीज पाने का प्रयास नहीं करेंगे। हमारे पास पूर्ण मौन होगा एवं समझ होगी। प्रत्येक व्यक्ति एक मुक्त मन को उपलब्ध कर सकता है।**

कृष्णमूर्ति : मैं आपकी बातों को बिलकुल अच्छी तरह समझ रहा हूँ।

परन्तु पहली बात यह है, क्या संसार के साथ आपका सरोकार एक ऐसी चीज के रूप में है जो आपसे पृथक् है ? क्या संसार वास्तविक रूप से 'आप' है—सैद्धांतिक रूप से नहीं ? क्या आप एक ऐसे मन की गुणवत्ता का अनुभव करते हैं जो कहता है, "मैं संसार हूँ, संसार 'मैं' है; मैं और संसार ये दो पृथक् हस्तियाँ नहीं हैं ?" यह अहं अर्थात् 'मैं' समुदाय से पृथक् है; 'मैं' संसार के विरुद्ध है, 'मैं' आपके दोस्त, आपकी पत्नी, आपके पति के विरुद्ध है। 'मैं' महत्वपूर्ण है। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है ? और यही 'मैं' प्रश्न कर रहा है, "यदि अहं अर्थात् 'मैं' न हो, तो संसार कैसा होगा ?" आप पता लगायें कि क्या आप 'मैं' और अहं के बिना जी सकते हैं, और तब आप इसकी सत्यता को देखेंगे।

पिछला प्रश्न भी हमारे सामने है : संसार में यदि एक मानव के पास साफ, स्वच्छ, स्पष्ट, बेदाग और मुक्त मन हो, तो इससे क्या फायदा है—

इसका मतलब ही क्या है ? यह प्रश्न कौन कर रहा है ? वह जो भ्रमित है या वह जिसका मन स्पष्ट, भ्रांतिरहित और मुक्त है ? यह प्रश्न 'कौन' कर रहा है ? क्या कोई फूल यह प्रश्न करता है ? क्या प्रेम यह प्रश्न करता है ? जब आप किसी प्रचण्ड समस्या से जूझ रहे होते हैं, उस समय क्या आप इस प्रकार का प्रश्न करते हैं ? यदि आप प्रेम करने का अर्थ जानते हैं, तो क्या आप यह प्रश्न करेंगे, "जहाँ इतने सारे लोगों को यह पता ही नहीं है कि प्रेम करने का क्या अर्थ है वहाँ केवल मेरे जानने का क्या मूल्य है ?" आप बस प्रेम करते हैं। आप ऐसा प्रश्न नहीं करते हैं। उसी तरह यदि आप स्वयं समस्त मनोवैज्ञानिक भय से मुक्त हैं, तो क्या आप पूछेंगे, "जहाँ सारा संसार भय से पीड़ित है वहाँ भय से मेरी मुक्ति का मतलब ही क्या है ?" तब वस्तुतः आप क्या करते हैं ? यदि आपके पास कोई भय नहीं हो एवं दूसरों के पास हो, तो आप क्या करेंगे ? तब आप भय की सम्पूर्ण संरचना को सीखने-समझने में मेरी सहायता करेंगे।

प्रश्नकर्ता : **आप भाषा को विभाजन पैदा करने से कैसे रोकेंगे ? प्रत्येक भाषा की अपनी एक विशेष बनावट होती है, इसका एक खास ढांचा होता है, और भाषा एक बाधा बन जाती है।**

कृष्णमूर्ति : आप इस बाधा को कैसे पार करेंगे ? क्या यह बात बहुत कुछ स्पष्ट नहीं है कि शब्द ही वस्तु नहीं है ? चाहे आप एक इतालवी शब्द का प्रयोग करें या एक अंग्रेजी या एक यूनानी शब्द का प्रयोग करें, परन्तु वह शब्द स्वयं वस्तु नहीं है। 'द्वार' शब्द द्वार नहीं है। कोई भी शब्द, वर्णन या व्याख्या वह चीज नहीं है जिसका वर्णन या जिसकी व्याख्या की गयी है—यदि इस तथ्य को देख लिया जाये, तो शब्द मात्र पर निर्भरता खत्म हो जाती है। आपने इस पर ध्यान दिया होगा कि विचार शब्दों से निर्मित है। विचार सदा स्मृति के अनुसार शाब्दिक ढाँचों में ही उत्तर देता है। विचार न सिर्फ शब्दों द्वारा सीमित है बल्कि यह शब्दों का गुलाम है। क्या आप शब्द के हस्तक्षेप के बिना सुन सकते हैं ? आप मुझसे कहते हैं, "मैं आपसे प्रेम करता हूँ", परन्तु वहाँ क्या घटित होता है ? इन शब्दों का शायद ही कोई अर्थ रह गया हो, परन्तु वहाँ सम्बन्ध का अर्थात् आत्मीयता का एक बोध हो सकता है, जो शब्दों को दिये गये विचार के उत्तर से उत्पन्न नहीं है: अर्थात् वहाँ एक प्रत्यक्ष संवाद घटित हो सकता है। शब्द ही वस्तु नहीं है। शब्द यानी विचार वस्तुतः हस्तक्षेप करता है—जब इस तथ्य के प्रति मन सजग हो जाता है, तो यह बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वतन्त्रतापूर्वक सुनता है, तब भी जब कोई कहता है, "मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।"

क्या आप बिना व्याख्या करते हुए तथा बिना अपने पूर्वाग्रहों के हस्तक्षेप एवं इसकी विकृति के सुन सकते हैं—जैसे संभवतः आप किसी पक्षी के गीत को सुन सकते

है ? यहाँ इटली में वहुत कम पक्षी हैं, लोग पक्षियों को मार देते हैं। हम कैसे राक्षसी और क्रूर व्यक्ति हैं ! तो क्या आप पक्षी के गीत को सुन सकते हैं, विना कोई शाब्दिक टिप्पणी देते हुए, विना इसे कोई नाम देते हुए, विना यह कहते हुए, "यह एक काला पक्षी है, मैं इसके गीत को सुनते ही रहना चाहूँगा।" क्या आप इस तरह के शाब्दिक हस्तक्षेपों के विना सुन सकते हैं—वस सिर्फ सुनना ? आप इस तरह जरूर सुन सकते हैं। क्या, नहीं सुन सकते ? अव अगला प्रश्न यह है : आपके भीतर जो कुछ चल रहा है उसे भी क्या आप उसी तरह सुन सकते हैं ? अर्थात् क्या आप उसे विना किसी नियम के तथा विना किसी विकृति के सुन सकते हैं—जैसे संभवतः आप घंटियों की आवाज को सुन सकते हैं, विना किसी सम्वन्ध-शृंखला के, सिर्फ इसकी शुद्ध ध्वनि को सुनते हुए ? इस अवस्था में आप स्वयं ध्वनि हैं, क्योंकि आप उससे पृथक् होकर उसे नहीं सुन रहे हैं।

प्रश्नकर्ता : ऐसा करने के लिए हमें अभ्यास करने की आवश्यकता है।

कृष्णमूर्ति : इस तरह सुनने के लिए आपको अभ्यास करने की आवश्यकता है ! तव किसी व्यक्ति को चाहिए कि वह आपको सिखाये ! जिसी क्षण कोई व्यक्ति आपको सिखाता है, वहाँ गुरु-शिष्य पैदा हो जाते हैं। वहाँ सिखानेवाले की सत्ता खड़ी हो जाती है। अभी जो घंटी वजी, क्या उसे आपने सुना—पूर्ण ध्यान से तथा विना किसी व्याख्या के ? यदि आपने देखा कि उस समय आप स्वयं से कह रहे थे, "दोपहर हो गया। कितने वजते होंगे ? खाने का समय हो गया", तो इस स्थिति में आपने देखा होगा कि घंटी की उस ध्वनि की ओर वस्तुतः आप पूरा ध्यान नहीं दे रहे थे। अतः आपने सीखा—न कि आपको सिखाया गया—कि आप वस्तुतः घंटी की उस ध्वनि को पूर्णतः नहीं सुन रहे थे।

प्रश्नकर्ता : एक ओर किसी घंटी का वजना या किसी पक्षी का गीत गाना तथा दूसरी ओर किसी वाक्य का एक शब्द जो अन्य शब्दों के साथ परस्पर गुथा हुआ है—इन दोनों में एक अन्तर है। मैं किसी पक्षी की आवाज को अलग कर सकता हूँ, परन्तु किसी वाक्य के एक शब्द को मैं अलग नहीं कर सकता।

कृष्णमूर्ति: किसी पक्षी को सुनना एक वाह्य एवं वस्तुपरक घटना है। परन्तु किसी वाक्य के सन्दर्भ में किसी शब्द का प्रयोग करते हुए क्या मैं स्वयं को ही सुन सकता हूँ ? क्या मैं शब्द को सुन सकता हूँ, तथा शब्द एवं इसके सन्दर्भ से मुक्त हो सकता हूँ ?

आप कह सकते हैं, "वह एक सुंदर मेज है।" आपने इसका एक मूल्यांकन किया और इसे सुंदर कहा। मैं इसे देखकर कह सकता हूँ, "कितनी भद्दी मेज है !" अतः शब्द आपकी अनुभूति का द्योतक है। शब्द वास्तविक चीज नहीं है, इसका

आविर्भाव एक सम्बन्धित विचार के रूप में ही होता है। क्या आप अपने मित्र को विना उस प्रतिमा के देख सकते हैं जो आपने उसके बारे में बना रखी है—प्रतिमा अर्थात् प्रतीक और शब्द। सम्भवतः आप इस तरह नहीं देख सकते हैं, क्योंकि आप नहीं जानते हैं कि वह प्रतिमा किस प्रकार निर्मित हुई है। आप मुझे कोई प्रिय बात कहते हैं और उससे मैं एक प्रतिमा निर्मित कर लेता हूँ आपके संबंध में कि आप मेरे मित्र हैं; दूसरा मुझे कोई अप्रिय बात कहता है, और उससे मैं उसके बारे में भी एक प्रतिमा निर्मित कर लेता हूँ। जब आपलोगों से मेरी मुलाकात होती है तो मैं आपको एक मित्र की तरह देखता हूँ, परन्तु दूसरे को मैं एक मित्र की तरह नहीं देखता। अतः प्रश्न यह है: क्या यह सम्भव है कि मन प्रतिमा निर्मित करे ही नहीं, भले ही आप मुझे कोई प्रिय बात कहें या अप्रिय बात ? मन प्रतिमा निर्मित करना तभी बंद कर सकता है यदि मैं अपना पूरा ध्यान दूँ। तब प्रतिमा का निर्माण नहीं होता। तब मैं अपने मन में विना किसी प्रतिमा को ढोते हुए सुन सकता हूँ।

प्रश्नकर्ता : **आप आरम्भ में जो कह रहे थे—समाज में रहते हुए स्वयं को बदलना—क्या उस विषय पर लौटना संभव होगा ? जहाँ आप अपने सम्बन्धों को सुरक्षित रखने के लिए बाध्य हैं, वहाँ स्वयं को वस्तुतः बदलना कैसे सम्भव है ? मैं पूँजीवादी परिवेश में हूँ और मेरे सारे सम्बन्धों को पूँजीवादी होना है अन्यथा मैं भूखों मरूँगा।**

कृष्णमूर्तिः और यदि आप साम्यवादी परिवेश में होते, तो आपने वहाँ भी स्वयं को उसके अनुकूल बना लिया होता।

प्रश्नकर्ता : **बिल्कुल।**

कृष्णमूर्ति : अतः आप क्या करेंगे ?

प्रश्नकर्ता : **मैं कैसे बदल सकता हूँ ?**

कृष्णमूर्ति : आप प्रश्न रख चुके हैं : यदि मैं एक पूँजीवादी समाज में जिऊँ तो मुझे पूँजीवादी माँगों के अनुकूल स्वयं को बनाना पड़ेगा; परन्तु यदि मैं एक साम्यवादी, सर्वसत्तावादी और नौकरशाही समाज में होता, तो मुझे वहाँ भी ठीक यही चीज करनी होती—अतः मैं क्या करूँ ?

प्रश्नकर्ता : **मुझे नहीं लगता कि वहाँ भी ठीक यही चीज होती।**

कृष्णमूर्ति : परन्तु यह एक ही ढाँचा है। वहाँ शायद आपके बाल कुछ छोटे होते और आपको काम पर जाना पड़ता, कुछ न कुछ करने के लिए। परन्तु यह सब एक ही परिधि के भीतर आता है। आप क्या करेंगे ? एक व्यक्ति जो इस बात को महसूस करता है कि वह यहाँ रहे चाहे वहाँ रहे, परन्तु उसके भीतर का परिवर्तन ही मुख्य रूप से महत्वपूर्ण है—ऐसे व्यक्ति का क्या सरोकार होगा ? उसे परिवर्तित होना ही

चाहिए। इस परिवर्तन का क्या निहितार्थ है ? इसका निहितार्थ है : मनोवैज्ञानिक भय से मुक्ति, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष और निर्भरता से मुक्ति, अकेले होने के भय से मुक्ति। ठीक ? यदि इन चीजों से मुक्ति आपके भीतर जन्म ले रही है, तो आप यहाँ या वहाँ कहीं भी मजे से रह सकते हैं—नियमानुसरण से मुक्त होकर। परन्तु दुर्भाग्यवश हमारे लिए वाहरी वदलाव ही महत्वपूर्ण है न कि आंतरिक क्रांति।

प्रश्नकर्ता : **और यदि कोई व्यक्ति आपको मार डाले, तो क्या होगा ?**

कृष्णमूर्ति : आह! एक मुक्त व्यक्ति को कोई मार नहीं सकता। आप भले ही उसकी आँखें वाहर निकाल लीजिये, परन्तु अपने भीतर वह मुक्त है, और कोई भी चीज उस मुक्ति का स्पर्श नहीं कर सकती।

प्रश्नकर्ता : **क्या आप अहंभाव की एक परिभाषा देंगे ?**

कृष्णमूर्ति : यदि आप एक परिभाषा चाहते हैं, तो आप इसे किसी कोश में देख लीजिये। 'परिभाषा'—कृपया इसे मत भूलें कि मैंने अत्यन्त सावधानीपूर्वक पहले ही कहा कि किसी चीज का वर्णन स्वयं वह वर्णित चीज नहीं है। यह अहं क्या है जो हर समय स्वयं को पृथक् करने की कोशिश करता रहता है ? भले ही आप किसी से प्रेम करें, उसके साथ सोयें, इत्यादि, परन्तु यह अहं सदा पृथक् खड़ा मौजूद रहता है—अपनी महत्वाकांक्षाओं, अपनी यन्त्रणाओं, अपनी आत्मदयनीयता, अपनी आत्मव्यस्तता एवं अपने भय के साथ। जव तक यह अहं कायम है तव तक अलगाव रहेगा। जव तक यह अहं मौजूद है तव तक द्वन्द्व रहेगा। समझे इसे आप ? यह अहं कैसे विदा होगा—विना किसी प्रयास के ? जिसी क्षण आप प्रयास करते हैं वहाँ 'उच्चतर अहं' की सत्ता खड़ी हो जाती है जो तथाकथित 'निम्नतर अहं' पर हावी होने की कोशिश करती है। इस 'अहं' नाम की चीज को मन कैसे मिटा सकता है ? अहं क्या है ? क्या यह स्मृतियों का एक समूह है ? अथवा क्या यह एक स्थायी चीज है ? यदि यह स्मृतियों का ही एक समूह है, तो यह अतीत का ही हिस्सा है, जो स्थायी नहीं है—परन्तु आपके पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है। यह अहं ही वह 'मैं' है जिसने ज्ञान और अनुभव का संग्रह स्मृति एवं दुःख के रूप में कर रखा है; और यही वह केन्द्र बन जाता है जिससे आपकी समस्त क्रियाएँ निकलती हैं। आप इसे एक तथ्य के रूप में देखिए, अर्थात् यह जैसा है, इसे वैसा ही देखिये।

हर धर्म, हर समाज एवं हर संस्कृति इस वात को महसूस करती है कि अहं स्वयं को अभिव्यक्त करना चाहता है। कला के क्षेत्र में यही अहं आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रचंड रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रभुत्व एवं प्रभाव जमाने के अपने स्वाग्रह तथा सूक्ष्म प्रयासों में भी यह अहं उतना ही महत्वपूर्ण रहता है। हर धर्म ने अहं को

मिटाने का प्रयास किया है—"अहं को महत्व मत दो, इसके स्थान पर ईश्वर को बिठाओ।" कुछ लोगों का कहना है कि अहं के स्थान पर ईश्वर को नहीं वल्कि राज्य को बिठाओ। किन्तु इससे कुछ नहीं हुआ। यह अहं ईश्वर के साथ या किसी अन्य चीज के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, अतः यह ज्यों का त्यों कायम रहता है। हम यह कह रहे हैं : आप अहं को इसकी क्रिया में देखिये, अर्थात् आप अहं का अवलोकन इसकी कार्यरत अवस्था में कीजिये। आप अहं का निरीक्षण कीजिए, इसके प्रति सजग रहिये तथा इसके बारे में सीखिये। इसे मिटाने की चेष्टा मत कीजिये, यह मत कहिये, "मुझे इससे छुटकारा पाना ही चाहिये, मुझे इसे परिवर्तित करना चाहिये। आप विना किसी चुनाव एवं विकृति निर्मित करते हुए इसका केवल निरीक्षण कीजिये। तब इस निरीक्षण एवं सीखने की क्रिया में ही अहं विदा हो जाता है।

रोम
अक्टूबर २१, १९७०

પરચ ફિંકુચનશીલ રિવિતા